प्रथमावृत्ति : २००० (श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, उदयपुर द्वारा प्रकाशित)
प्रथमावृत्ति १००० (पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा प्रकाशित)
卐 श्री वीतराग-विज्ञान शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर, भीलवाड़ा (राज०) के शुभ अवसर पर 卐

मूल्य दो रुपये
तीन रुपये
(प्लास्टिक कवर सहित)

मुद्रक
जयपुर प्रिण्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर – ३०२००१

विषय-सूची

प्रकाशकीय

आध्यात्मिक भावो के प्रस्फुटन मे निमित्तभूत 'अध्यात्म पाठ संग्रह' का प्रकाशन करते हुए 'श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, उदयपुर' अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है।

सौराष्ट्र की रत्नगर्भा भूमि मे जन्मे 'आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी' के सातिशय प्रभावना योग-से गत ५० वर्षों मे अभूतपूर्व आध्यात्मिक क्रान्ति सम्पन्न हुई। उनकी अन्तर्मुखी पुरुषार्थ प्रेरक वाणी से दिगम्बर सन्तो द्वारा लिपिबद्ध जिनागम का आत्महितकारी मर्म प्राप्त कर हजारो स्थानक वासी व श्वेताम्बर भाइयो ने दिगम्बर धर्म की सत्यता को स्वीकार कर, उसे अपनाया तथा दिगम्बर समाज मे भी सशक्त आध्यात्मिक चेतना जागृत हुई।

गांव-गांव मे समाज के तत्वजिज्ञासु भाइयो ने पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा उपदिष्ट जिनवाणी के मर्म के समझने हेतु दैनिक स्वाध्याय हेतु मडलो की स्थापना की। मडलो की इस माला के मोती के रूप मे 'दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, उदयपुर' दैनिक स्वाध्याय के साथ-साथ सन् १९७९ मे पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा सचालित श्री वीतरागविज्ञान शिक्षण-परीक्षण शिविर के आयोजन की चमक से गौरवान्वित है।

स्वाध्याय के वांचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रक्षा और धर्मोपदेश — ये पाचो अग पूज्य स्वामीजी के प्रताप से और अधिक प्रचलित हुए। समयसार पद्यानुवाद, योगसार पद्यानुवाद, छहढाला, आदि पद्य पाठ की परम्परा से आम्नाय अग विशेषरूप से प्रचलित हुआ। पाठ करने हेतु आवश्यक सामग्री एकसाथ उपलब्ध हो सके, इसी उद्देश्य से यह कृति प्रकाशित की जा रही है।

उदयपुर

समयसार, योगसार एवं छहढाला के रचनाकार क्रमशः आचार्य कुन्दकुन्द, मुनिराज योगीन्दु एवं पण्डित दौलतरामजी का संक्षिप्त परिचय भी पुस्तक के प्रारम्भ में संगृहीत कर दिया जा रहा है।

जिनवाणी के प्रचार-प्रसार हेतु कृतसंकल्पित पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ने इस पुस्तक के प्रकाशन की प्रबन्ध व्यवस्था का दायित्व वहन करके, हमें बहुत बड़े भार से मुक्त कर दिया। एतदर्थ हम ट्रस्ट के पदाधिकारी गण एवं संचालक डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल के हार्दिक आभारी हैं।

श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर के मेधावी छात्र विद्वान एवं जयपुर से प्रकाशित हिन्दी आत्मधर्म के प्रबन्ध सम्पादक राजेश जैन, शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य ने इस संग्रह का सम्पादन कार्य किया है, एतदर्थ उन्हें भी अनेकानेक धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

मुद्रण कार्य हेतु श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिण्टर्स भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके सद्प्रयास से इस पुस्तक का इतना सुन्दर मुद्रण हुआ है। इनके अलावा वे सभी महानुभाव भी धन्यवादार्ह हैं, जिनका यत्-किंचित् सहयोग भी हमें प्राप्त हुआ है।

इस पुस्तक का मूल्य लागत कीमत से भी कम रखने हेतु श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, उदयपुर के स्वाध्याय प्रेमियों की ओर से ४०००) की राशि प्राप्त हुई है।

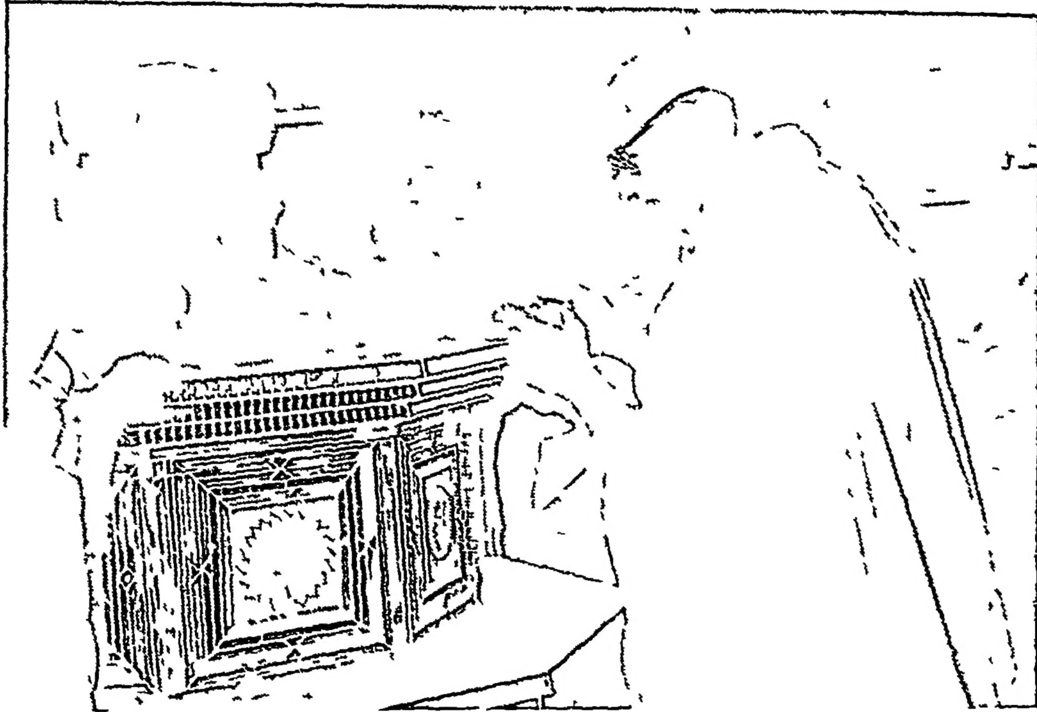
अन्त में, सभी स्वाध्याय प्रेमी महानुभाव इस पुस्तक के माध्यम से स्वाध्याय के अंगभूत आम्नाय अंग का उपयोग कर अपना आत्महित करें — ऐसी भावना है।

निवेदक :

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, उदयपुर (राज०)



आचार्य कुन्दकुन्द
जिन्होने समयसार आदि परमागमो की रचना
करके हम पामर जीवो पर अनन्त-अनन्त उपकार किया है



श्री चन्द्रप्रभ चैत्यालय, उदयपुर के १५ वर्ष पूर्ण होने के शुभ प्रसङ्ग पर
पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी को सादर समर्पित

अध्यात्म पाठ संग्रह

आचार्य कुन्दकुन्द : संक्षिप्त परिचय

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्कुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

परम आध्यात्मिक सन्त कुन्दकुन्दाचार्यदेव को समग्र दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। उन्हे भगवान महावीर और गौतम गणधर के तत्काल बाद मगलस्वरूप स्मरण किया जाता है। प्रत्येक दिगम्बर जैन उक्त छन्द को शास्त्राध्ययन आरम्भ करने के पूर्व प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक बोलता है। दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने मे गौरव का अनुभव करते हैं।

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्यदेव के नाम एव काम (महिमा) से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है। लोकेषणा से दूर रहनेवाले अन्तर्मग्न कुन्दकुन्द ने अपने बारे मे कही कुछ भी नही लिखा है। 'द्वादशानुप्रेक्षा' मे मात्र नाम का उल्लेख है। इसीप्रकार 'बोधपाहुड' मे अपने को द्वादशाग के ज्ञाता तथा चौदह पूर्वों का विपुल प्रसार करनेवाले श्रुतज्ञानी भद्रबाहु का शिष्य लिखा है।

प्राप्त जानकारी के अनुसार इनका समय विक्रम सवत् का आरभकाल है। श्रुतसागर सूरि ने 'षट्प्राभृत' की टीका प्रशस्ति मे इन्हे 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहा है। इन्हे कई ऋद्धियाँ प्राप्त थी और इन्होने विदेहक्षेत्र मे विराजमान श्री सीमधरनाथ के साक्षात् दर्शन किये थे। श्री देवसेनाचार्य ने अपने 'दर्शनसार' नामक ग्रन्थ मे तत्सम्बन्धी उल्लेख इसप्रकार किया है.—

जइ पउमणंदिणाहो, सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विवोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति ।।

श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनंदिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) ने बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

इनका वास्तविक नाम पद्मनंदि है। कौण्डकुण्डपुर के वासी होने से इन्हे कुन्दकुन्दाचार्य कहा जाने लगा। कुन्दकुन्दाचार्य के निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हैं – समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड, द्वादशानुप्रेक्षा और दशभक्ति । रयणसार और मूलाचार भी उनके ही ग्रन्थ कहे जाते हैं। कहते है उन्होने चौरासी पाहुड लिखे थे । यह भी कहा जाता है कि इन्होने 'षटखण्डागम' के प्रथम तीन खण्डो पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी ।

समयसार जैन अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकाय मे जैन सिद्धान्तो का विशद् विवेचन है। उक्त तीनो को नाटकत्रयी या प्राभृतत्रयी भी कहा जाता है। उक्त ग्रन्थो पर आचार्य अमृतचन्द्र व आचार्य जयसेन की संस्कृत टीकायें भी हैं।

करीब चालीस वर्ष से आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो को आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने जन-जन की वस्तु बना दिया है। उन्होने उन पर प्रवचन किये, सस्ते सुलभ प्रकाशन कराये तथा सोनगढ (सौराष्ट्र) मे परमागम मन्दिर का निर्माण करके उसमे संगमरमर की पाटियो पर समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार संस्कृत टीकासहित तथा अष्टपाहुड उत्तीर्ण कराकर उन्हे भौतिक दृष्टि से भी अमर कर दिया है। उक्त परमागम मन्दिर एक दर्शनीय तीर्थ बन गया है । 

मुनिराज योगीन्दु : संक्षिप्त परिचय

अपभ्रंश के महाकवि अध्यात्मवेत्ता योगीन्दु के जीवन के बारे मे विशेष जानकारी अभी तक उपलब्ध नही है। उनके नाम का भी कई तरह से उल्लेख मिलता है, जैसे योगीन्दु, योगीन्द्र। पर अपभ्रंश के 'जोइन्दु' का सस्कृतानुवाद 'योगीन्दु' ठीक बैठता है, योगीन्द्र नही।

योगीन्दु के समय के बारे मे भी विभिन्न मत हैं। इनका काल छठवी शताब्दी से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक माना जाता है।

आपके ग्रन्थो पर कुन्दकुन्द का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। योगीन्दु ने कुन्दकुन्द से बहुत कुछ लिया है। पूज्यपाद के समाधिशतक और योगीन्दु के परमात्मप्रकाश मे भी घनिष्ठ समानता दिखाई देती है।

उनके द्वारा बनाये गये परमात्मप्रकाश (परमप्पयासु) और योगसार (जोगसारु) ही उनकी कीर्ति के अक्षय भडार हैं। इन ग्रन्थो मे उन्होने अध्यात्म के गूढ तत्त्वो को सहज और सरल लोक-भाषा मे जनता के समक्ष रखा है।

इस पुस्तक अध्यात्म पाठ सग्रह में मुनिराज योगिन्दु द्वारा रचित योगसार का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया गया है।



पण्डित दौलतराम : संक्षिप्त परिचय

(विक्रम संवत् १७५५–१९२३)

अध्यात्म-रस में निमग्न रहनेवाले उन्नीसवीं सदी के तत्त्वदर्शी विद्वान् कविवर पं० दौलतरामजी पल्लीवाल जाति के नररत्न थे। आपका जन्म अलीगढ़ के पास सासनी नामक ग्राम में हुआ। आप कुछ दिन अलीगढ़ भी रहे थे। आपके पिता का नाम श्री टोडरमल था।

आत्मश्लाघा से दूर रहनेवाले इन महान कवि का जीवन-परिचय पूर्णतः प्राप्त नहीं है। वे एक साधारण गृहस्थ थे एवं सरल स्वभावी, आत्मज्ञानी पुरुष थे। आपके द्वारा रचित ग्रन्थ छहढाला जैन समाज का बहुप्रचलित एवं समादृत ग्रन्थरत्न है। शायद ही कोई जैनी हो, जिसने छहढाला का अध्ययन न किया हो। सभी जैन परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रम में इसे स्थान प्राप्त है।

इसकी रचना आपने विक्रम सम्वत् १८९१ में की थी। आपने इसमें गागर में सागर भरने का सफल प्रयत्न किया है। इसके अलावा आपने कई स्तुतियाँ एवं अध्यात्म-रस से ओत-प्रोत अनेक भजन लिखे हैं, जो आज भी सारे भारतवर्ष के मन्दिरों और शास्त्र-सभाओं में बोले जाते हैं। आपके भजनों में मात्र भक्ति ही नहीं, गूढ़ तत्त्व भी भरे हुए हैं।

भक्ति और अध्यात्म के साथ ही आपके काव्य में काव्योपादान भी अपने प्रौढ़तम रूप में पाये जाते हैं। भाषा सरल, सुबोध और प्रवाहमयी है, भर्ती के शब्दों का अभाव है। आपके पद हिन्दी गीत साहित्य के किसी भी महारथी के सम्मुख बड़े ही गर्व के साथ रखे जा सकते हैं। यहाँ 'अध्यात्म पाठ संग्रह' में आपके द्वारा रचित छहढाला प्रकाशित की गयी है।

समयसार पद्यानुवाद

१. जीव-अजीव अधिकार

(हरिगीतिका)

ध्रुव अचल अरु अनुपम गति, पाये हुये सब सिद्ध को।
मैं वंद श्रुतकेवलि कथित, कहूँ समयप्राभृत को अहो ॥ १ ॥

जीव चरित-दर्शन-ज्ञान स्थित, स्वसमय निश्चय जानना।
स्थित कर्मपुद्गल के प्रदेशों, परसमय जीव जानना ॥ २ ॥

एकत्व निश्चय गत समय, सर्वत्र सुन्दर लोक में।
उससे बने बंधन कथा, जु विरोधिनी एकत्व में ॥ ३ ॥

है सर्व श्रुत-परिचित-अनुभुत, भोगबंधन की कथा।
पर से जुदा एकत्व की, उपलब्धि केवल सुलभ ना॥ ४ ॥

दर्शाऊँ एक विभक्त को, आत्मा तने निज विभव से।
दर्शाऊँ तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने॥ ५ ॥

नहिं अप्रमत्त, प्रमत्त नहिं, जो एक ज्ञायक भाव है।
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है॥ ६ ॥

चारित्र-दर्शन-ज्ञान भी, व्यवहार कहता ज्ञानी के।
चारित्र नहिं, दर्शन नहिं, नहिं ज्ञान, ज्ञायक शुद्ध है॥ ७ ॥

भाषा अनार्य बिना न, समझाना ज्यों शक्य अनार्य को।
व्यवहार बिन परमार्थ का, उपदेश होय अशक्य यों॥ ८ ॥

इस आतम को श्रुत से नियत, जो शुद्ध केवल जानते।
ऋषिगण प्रकाशक लोक के, श्रुतकेवली उसको कहें ॥ ९ ॥

श्रुतज्ञान सब जाने जु, जिनश्रुतकेवली उसको कहे।
सब ज्ञान सो आतमा हि है, श्रुतकेवली उससे बने ॥ १० ॥

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
भूतार्थ आश्रित आतमा, सुदृष्टि निश्चय होय है ॥ ११ ॥

देखे परम जो भाव उसको, शुद्धनय ज्ञातव्य है।
ठहरा जु अपरमभाव में, व्यवहार से उपदिष्ट है ॥ १२ ॥

भूतार्थ से जाने अजीव-जीव, पुण्य-पाप रु निर्जरा।
आस्रव संवर बन्ध मुक्ति, ये हि समकित जानना ॥ १३ ॥

अनबद्ध-स्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्म को।
अविशेष अनसंयुक्त, उसको शुद्धनय तू जान जो ॥ १४ ॥

अनबद्ध-स्पृष्ट अनन्य जो, अविशेष देखे आत्म को।
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो ॥ १५ ॥

दर्शनसहित नित ज्ञान अरु, चारित्र साधु सेविये।
पर ये तीनों आतमा ही केवल, जान निश्चयदृष्टि में ॥ १६ ॥

ज्यों पुरुष कोई नृपति को भी, जानकर श्रद्धा करे।
फिर यत्न से धन अर्थ वो, अनुचरण राजा का करे ॥ १७ ॥

जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से ॥ १८ ॥

नोकर्म कर्म जु मैं अवरु, मैं मैं कर्म नोकर्म हैं।
यह बुद्धि जब तक जीव की, अज्ञानी तब तक वो रहे ॥ १९ ॥

मैं ये अवरु, ये मैं, मैं हूँ इनका अवरु, ये हैं मेरे।
जो अन्य हैं परद्रव्य मिश्र, सचित्त अगर अचित्त वे ॥ २० ॥

मेरा ही यह था पूर्व में, मैं इसी का गतकाल में।
ये होयगा मेरा अवरु, मैं इनका हूँगा भावि में ॥ २१ ॥

अयथार्थ आत्म विकल्प ऐसा, मूढ़जीव हि आचरे।
भूतार्थ जाननहार ज्ञानी, ये विकल्प नहीं करे ॥ २२ ॥

अज्ञान मोहित बुद्धि जो, बहुभाव संयुत जीव है।
ये बद्ध और अबद्ध, पुद्‌गलद्रव्य मेरा वो कहे ॥ २३ ॥

सर्वज्ञ ज्ञानविषै सदा, उपयोग लक्षण जीव है।
वो कैसे पुद्‌गल हो सके जो, तू कहे मेरा अरे ॥ २४ ॥

जो जीव पुद्‌गल होय, पुद्‌गल प्राप्त हो जीवत्व को।
तू तब हि ऐसा कह सके, है मेरा पुद्‌गल द्रव्य को ॥ २५ ॥

जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेश की।
मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीव देह की ॥ २६ ॥

जीव देह दोनों एक हैं, यह वचन है व्यवहार का।
निश्चयविषै तो जीव देह, कदापि एक पदार्थ ना ॥ २७ ॥

जीव से जुदा पुद्‌गलमयी, इस देह की स्तवना करी।
माने मुनी जो केवली, वन्दन हुआ स्तवना हुई ॥ २८ ॥

निश्चयविषै नहिं योग्य ये, नहिं देह गुण केवली हि के।
जो केवली गुण को स्तवे, परमार्थ केवली वो स्तवे ॥ २९ ॥

रे ग्राम वर्णन करन से, भूपाल वर्णन हो न ज्यों।
त्यों देह गुण के स्तवन से, नहिं केवली गुण स्तवन हो ॥ ३० ॥

कर इन्द्रिजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को।
निश्चयविषै स्थित साधुजन, भाषें जितेन्द्रिय उन्हीं को ॥ ३१ ॥

कर मोहजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आतमा।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उनहि जितमोही कहा ॥ ३२ ॥

जित मोह साधु पुरुष का, जब मोह क्षय हो जाय है।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उनको कहे ॥ ३३ ॥

सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावों का करे।
इससे नियम से जानना कि, ज्ञान प्रत्याख्यान है॥ ३४॥

ये और का है जानकर, परद्रव्य को यह नर तजे।
त्यों और के हैं जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे॥ ३५॥

कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं।
इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, मोह निर्ममता कहें॥ ३६॥

धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक हूँ।
इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, धर्मादि निर्ममता कहें॥ ३७॥

मैं एक शुद्ध सदा अरूपी, ज्ञान दृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे॥ ३८॥

को मूढ़ आतम अजान जो, पर आतमवादी जीव है।
है कर्म अध्यवसान ही जीव, यों हि वो कथनी करे ॥ ३९ ॥

अरु कोई अध्यवसान में, अनुभाग तीक्षण मंद जो।
उसको ही माने आत्मा, अरु अन्य को, नोकर्म को ॥ ४० ॥

को अन्य माने आत्मा बस, कर्म के ही उदय को।
को तीव्र मंद गुणों सहित, कर्मों हि के अनुभाग को ॥ ४१ ॥

को कर्म आत्मा, उभय मिलकर जीव की आशा धरें।
को कर्म के संयोग से, अभिलाष आत्मा की करें ॥ ४२ ॥

दुर्बुद्धि यों ही और बहुविध, आतमा पर को कहे।
वे सर्व नहिं परमार्थवादी, ये हि निश्चयविद कहे ॥ ४३ ॥

पुद्गलदरव परिणाम से, उपजे हुए सब भाव ये।
सब केवली जिन भाषिया, किस रीत जीव कहें उन्हें ॥ ४४ ॥

रे कर्म अष्ट प्रकार का, जिन सर्व पुद्गलमय कहे।
परिपाक में जिस कर्म का फल, दुःख नाम प्रसिद्ध है ॥ ४५ ॥

व्यवहार ये दिखला दिया, जिनदेव के उपदेश में।
ये सर्व अध्यवसान आदि. भाव को जँह जीव कहे ॥ ४६ ॥

निर्गमन इस नृप का हुवा, निर्देश सैन्य समूह में।
व्यवहार से कहलाय यह, पर भूप इसमें एक है ॥ ४७ ॥

त्यों सर्व अध्यवसान आदि, अन्य भाव जु जीव है।
शास्त्रन किया व्यवहार पर, वहाँ जीव निश्चय एक है ॥ ४८ ॥

जीव चेतना गुण, शब्द रस रूप गंध व्यक्ति विहीन है।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान उसका, ग्रहण नहिं है लिंग से ॥ ४९ ॥

नहिं वर्ण जीव के, गंध नहिं, नहिं स्पर्श, रस जीव के नहीं।
नहिं रूप, अर संहनन नहिं, संस्थान नहिं, तन भी नहीं ॥ ५० ॥

नहिं राग जीव के, द्वेष नहिं, अरु मोह जीव के है नहीं।
प्रत्यय नहीं, नहिं कर्म, अरु नोकर्म भी जीव के नहीं ॥ ५१ ॥

नहिं वर्ग जीव के, वर्गणा नहिं, कर्मस्पर्द्धक है नहीं।
अध्यात्मस्थान न जीव के, अनुभाग स्थान भी है नहीं ॥ ५२ ॥

जीव के नहिं कुछ योगस्थान रु, बंधस्थान भी है नहीं।
नहिं उदयस्थान ही जीव के, अरु स्थान मार्गणा के नहीं ॥ ५३ ॥

स्थितिबंध स्थान न जीव के, संक्लेश स्थान भी हैं नहीं।
जीव के विशुद्धि स्थान, संयमलब्धि स्थान भी हैं नहीं ॥ ५४ ॥

नहिं जीवस्थान भी जीव के, गुणस्थान भी जीव के नहीं।
ये सब ही पुद्गल द्रव्य के, परिणाम हैं जानो यही ॥ ५५ ॥

वर्णादि गुणस्थानांत भाव जु, जीव के व्यवहार से।
पर कोई भी ये भाव नहिं हैं, जीव के निश्चयविषै ॥ ५६ ॥

इन भाव से सम्बन्ध जीव का, क्षीर जलवत् जानना।
उपयोग गुण से अधिक, तिससे भाव कोई न जीव का ॥ ५७ ॥

देखा लुटाते पंथ में को, पन्थ ये लुटात है।
जनगण कहे व्यवहार से, नहिं पंथ को लुटात है ॥ ५८ ॥

त्यों वर्ण देखा जीव में, इन कर्म अरु नोकर्म का।
जिनवर कहे व्यवहार से, यह वर्ण है इस जीव का ॥ ५६ ॥

त्यों गंध रस रूप स्पर्श तन, संस्थान इत्यादि सबैं।
भूतार्थदृष्टा पुरुष ने, व्यवहारनय से वर्णये ॥ ६० ॥

संसारी जीव के वर्ण आदि, भाव हैं संसार में।
संसार से परिमुक्त के नहिं, भाव को वर्णादि के ॥ ६१ ॥

यह भाव सब हैं जीव जो, ऐसा हि तू माने कभी।
तो जीव और अजीव में कुछ, भेद तुझ रहता नहीं ॥ ६२ ॥

वर्णादि हैं संसारी जीव के, ये हि मत तुझ होय जो।
संसारस्थित सब जीवगण, पाये तदा रूपित्व को ॥ ६३ ॥

इस रीत पुद्गल वो हि जीव, हे मूढ़मति सम चिह्न से ।
अरु मोक्ष प्राप्त हुआ भी, पुद्गल द्रव्य जीव बने अरे ॥ ६४ ॥

जीव एक दो त्रय चार, पंचेन्द्रिय बादर सूक्ष्म हैं ।
पर्याप्त अनपर्याप्त जीव जु, नामकर्म की प्रकृति हैं ॥ ६५ ॥

जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे ।
उससे रचित जीवथान जो हैं, जीव क्यों हि कहाय वे ॥ ६६ ॥

पर्याप्त अनपर्याप्त जो, हैं सूक्ष्म अरु बादर सभी ।
व्यवहार से कही जीवसंज्ञा, देह को शास्त्रन महीं ॥ ६७ ॥

मोहन करम के उदय से, गुणस्थान जो ये वर्णये ।
वे क्यों बने आतमा निरंतर, जो अचेतन जिन कहे ॥ ६८ ॥

रे आतम आस्रव का जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं।
क्रोधादि में स्थिति होय है, अज्ञानी ऐसे जीव की ॥ ६९ ॥

जीव वर्तता क्रोधादि में, तब करम संचय होय है।
सर्वज्ञ ने निश्चय कहा, यों बन्ध होता जीव के ॥ ७० ॥

ये जीव ज्यों ही आस्रवों का, त्यों ही अपनी आतम का।
जाने विशेषांतर तब ही, बन्धन नहीं उसको कहा ॥ ७१ ॥

अशुचिपना विपरीतता, ये आस्रवों का जान के।
अरु दुःखकारण जान के, इनसे निवर्तन जीव करे ॥ ७२ ॥

मैं एक शुद्ध ममत्व हीन रु, ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ।
इसमें रहूँ स्थित, लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ॥ ७३॥

ये सर्व जीव निबद्ध अध्रुव शरणहीन अनित्य हैं।
ये दुःख दुःखफल जानके, इनसे निवर्तन जीव करे॥ ७४॥

जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है।
सो नहीं करे जो मात्र जाने, वो हि आत्मा ज्ञानी है॥ ७५॥

बहुभाँति पुद्गल कर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
परद्रव्य पर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे नहिं ऊपजे॥ ७६॥

बहुभाँति निज परिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
परद्रव्य पर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे॥ ७७॥

पुद्गल करम का फल अनन्ता, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
पर द्रव्य-पर्यायों न परिणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे ॥ ७८ ॥

इस भाँति पुद्गल द्रव्य भी, निज भाव से ही परिणमे।
पर द्रव्य-पर्यायों न परिणमें, नहिं ग्रहे नहिं ऊपजे ॥ ७९ ॥

जीव भाव हेतू पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे।
पुद्गल करम के निमित्त से, यह जीव भी त्यों परिणमे ॥ ८० ॥

जीव कर्मगुण कर्त्ता नहीं, नहिं जीवगुण कर्म हि करे।
अन्योन्य के हि निमित्त से, परिणाम दोनों के बने ॥ ८१ ॥

इस हेतु से आत्मा हुआ, कर्त्ता स्वयं निज भाव का।
पुद्गल करम कृत सर्व भावों का कभी कर्त्ता नहीं ॥ ८२ ॥

आत्मा करे निज को हि ये, मन्तव्य निश्चय नय हि का।
अरु भोगता निज को ही आत्मा, शिष्य यों तू जानना ॥ ८३ ॥

आत्मा करे बहुभाँति पुद्गल-कर्म मत व्यवहार का।
अरु वो हि पुद्गलकर्म, आत्माऽनेकविधमय भोगता ॥ ८४ ॥

पुद्गल करम जीव जो करे, उनको हि जो जीव भोगवे।
जिनको असंमत द्विक्रिया से एकरूप आत्मा हुवे ॥ ८५ ॥

जीवभाव पुद्गलभाव – दोनों भाव को आत्मा करे।
इससे ही मिथ्यादृष्टि, ऐसे द्विक्रियावादी हुवे ॥ ८६ ॥

मिथ्यात्व जीव अजीव दो विध, उभय विध अज्ञान है।
अविरमण योग रु मोह अरु क्रोधादि उभय प्रकार हैं ॥ ८७ ॥

मिथ्यात्व अरु अज्ञान आदि अजीव पुद्गल कर्म हैं।
अज्ञान अरु अविरमण अरु मिथ्यात्व जीव-उपयोग हैं ॥ ८८ ॥

है मोह युत उपयोग का परिणाम तीन अनादि का।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान अविरत भाव – ये तीन जानना ॥ ८९ ॥

इससे हि है उपयोग त्रय विध, शुद्ध निर्मल भाव जो।
जो भाव कुछ भी वह करे, उस भाव का कर्त्ता बने ॥ ९० ॥

जो भाव जीव करे स्वयं, उस भाव का कर्त्ता बने।
उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्व रूप हि परिणमे ॥ ९१ ॥

पर को करे निजरूप अरु, निज आत्म को भी पर करे।
अज्ञानमय ये जीव ऐसा, कर्म का कारक बने ॥ ९२ ॥

पर को नहीं निजरूप अरु, निज आतम को नहिं पर करे।
यह ज्ञानमय आतमा अकारक, कर्म का ऐसे बने ॥ ९३ ॥

'मैं क्रोध' आतम विकल्प यह, उपयोग त्रय विध आचरे।
तब जीव उस उपयोगरूप, जीवभाव का कर्त्ता बने ॥ ९४ ॥

'मैं धर्म' आदि विकल्प यह, उपयोग त्रय विध आचरे।
तब जीव उस उपयोगरूप, जीवभाव का कर्त्ता बने ॥ ९५ ॥

यह मन्दबुद्धि जीव यों, परद्रव्य को निजरूप करे।
इस भाँति से निज आतम को, अज्ञान से पररूप करे ॥ ९६ ॥

इस हेतु से परमार्थविद, कर्त्ता कहें इस आतम को।
यह ज्ञान जिसको होय, वो छोड़े सकल कर्तृत्व को ॥ ९७ ॥

घट-पट-रथादिक वस्तुएँ, कर्मादि अरु सब इन्द्रियाँ।
नोकर्म विध-विध जगत में, आतमा करे व्यवहार से ॥ ९८ ॥

परद्रव्य को जीव जो करे, तो जरूर वो तन्मय बने।
पर वो नहीं तन्मय हुआ, इससे न कर्त्ता जीव है ॥ ९९ ॥

जीव नहिं करे घट-पट नहीं, नहिं शेष द्रव्यों जीव करे।
उपयोग-योग निमित्त-कर्त्ता, जीव तत्कर्त्ता बने ॥१००॥

ज्ञानावरण आदि सभी, पुद्गल दरव परिणाम हैं।
करता नहीं आतमा उन्हें, जो जानता वो ज्ञानी है ॥१०१॥

जो भाव जीव करे शुभाशुभ, उस हि का कर्त्ता बने।
उसका बने वो कर्म, आतमा उस हि का वेदक बने ॥१०२॥

जो द्रव्य जो गुण वस्तु में, परद्रव्यरूप न संक्रमे।
अनसंक्रमा किस भाँति वह परद्रव्य परिणमावे अरे ॥१०३॥

आत्मा करे नहिं द्रव्य-गुण, पुद्‌गलमयी कर्मों विषै।
इन उभय को उनमें न कर्त्ता, क्यों हि तत्कर्त्ता बने ॥१०४॥

जीव हेतुभूत हुआ अरे, परिणाम देख जु बन्ध का।
उपचारमात्र कहाय यों, यह कर्म आत्मा ने किया ॥१०५॥

योद्धा करें जहँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहैं।
त्यों जीव ने ज्ञानावरण आदि किये व्यवहार से ॥१०६॥

उपजावता, परिणामवता, ग्रहता, अवरु बांधे, करे।
पुद्‌गल दरब को आतमा, व्यवहार नय वक्तव्य है ॥१०७॥

गुण-दोष उत्पादक कहा, ज्यों भूप को व्यवहार से।
त्यों द्रव्य-गुण उत्पन्न कर्त्ता, जीव कहा व्यवहार से ॥१०८॥

सामान्य प्रत्यय चार, निश्चय बन्ध के कर्त्ता कहे।
मिथ्यात्व अरु अविरमण, योग, कषाय ये ही जानने ॥१०९॥

फिर उनहिं का दर्शा दिया, यह भेद तेरह प्रकार का।
मिथ्यात्व गुणस्थानादि ले, जो चरमभेद सयोगि का ॥११०॥

पुद्गल करम के उदय से, उत्पन्न इससे अजीव वे।
वे जो करे कर्मों भले, भोक्ता नहिं जीव द्रव्य है ॥१११॥

परमार्थ से 'गुण' नाम के, प्रत्यय करे इन कर्म को।
तिससे अकर्त्ता जीव है, गुणस्थान करते कर्म को ॥११२॥

उपयोग ज्यों ही अनन्य जीव का, क्रोध त्यों ही जीव का ।
तो दोष आवे जीव त्यों ही अजीव के एकत्व का ॥११३॥

यों जगत में जो जीव वे ही अजीव भी निश्चय हुए ।
नोकर्म, प्रत्यय, कर्म के एकत्व में भी दोष ये ॥११४॥

जो क्रोध यों है अन्य, जीव उपयोग आत्मक अन्य है ।
ज्यों क्रोधवत् नोकर्म प्रत्यय कर्म भी सब अन्य हैं ॥११५॥

जीव में स्वयं नहिं बद्ध, अरु नहि कर्मभावों परिणमे ।
तो वो ही पुद्गल द्रव्य भी, परिणमनहीन बने अरे ॥११६॥

जो वर्गणा कार्माण की, नहिं कर्मभावों परिणमे ।
संसार का ही अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुआ ॥११७॥

जो कर्म भावों परिणमावे जीव पुद्‌गलद्रव्य को।
क्यों जीव उसको परिणमावे, स्वयं नहि परिणमत जो ॥११८॥

स्वयमेव पुद्‌गलद्रव्य अरु, जो कर्म भावों परिणमें।
जीव परिणमावे कर्म को, कर्मत्व में मिथ्या बने ॥११९॥

पुद्‌गल दरब जो कर्म परिणत, नियम से कर्म ही बने।
ज्ञानावरण इत्यादि परिणत, वो ही तुम जानो उसे ॥१२०॥

नहिं बद्धकर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे।
तो जीव यह तुझ मत विषैं, परिणमनहीन बने अरे ॥१२१॥

क्रोधादि भावों जो स्वयं नहिं जीव आप हि परिणमे।
संसार का ही अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुआ ॥१२२॥

जो क्रोध पुद्‍गल कर्म जीव को, परिणमावे क्रोध में।
क्यों क्रोध उसको परिणमावे, जो स्वयं नहिं परिणमे ॥१२३॥

अथवा स्वयं जीव क्रोध भावों, परिणमे तुझ बुद्धि से।
तो क्रोध जीव को परिणमावे, क्रोध में मिथ्या बने ॥१२४॥

क्रोधोपयोगी क्रोध जीव, मानोपयोगी मान है।
मायोपयुत माया अवरु लोभोपयुत लोभ हि बने ॥१२५॥

जिस भाव को आत्मा करे, कर्त्ता बने उस कर्म का।
वो ज्ञानमय है ज्ञानी का, अज्ञानमय अज्ञानी का ॥१२६॥

अज्ञानमय अज्ञानी का, जिससे करे वो कर्म को।
पर ज्ञानमय है ज्ञानी का, जिससे करे नहिं कर्म वो ॥१२७॥

ज्यों ज्ञानमय को भाव में से, ज्ञान भाव ही उपजते।
यों नियत ज्ञानी जीव के, सब भाव ज्ञानमयी बने ॥१२८॥

अज्ञानमय को भाव से, अज्ञान भाव ही ऊपजे।
इस हेतु से अज्ञानी के, अज्ञानमय भाव ही बने ॥१२९॥

ज्यों कनकमय को भाव में से, कुण्डलादिक ऊपजे।
पर लोहमय को भाव से, कटकादि भावो नीपजे ॥१३०॥

त्यों भाव बहुविध ऊपजे, अज्ञानमय अज्ञानी के।
पर ज्ञानी के तो सर्व भाव ही, ज्ञानमय निश्चय बने ॥१३१॥

जो तत्त्व का अज्ञान जीव के, उदय वो अज्ञान का।
अप्रतीति तत्त्व की जीव के जो, उदय वो मिथ्यात्व का ॥१३२॥

जीव का जु अविरत भाव है, तो उदय अनसंयम हि का।
जीव का कलुष उपयोग जो, वो उदय जान कषाय का ॥१३३॥

शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तन रूप जो चेष्टा हि का।
उत्साह करते जीव के वो उदय जानो योग का ॥१३४॥

जब होय हेतुभूत ये, तब स्कन्ध जो कार्माण के।
वे अष्टविध ज्ञानावरण, इत्यादि भावों परिणमें ॥१३५॥

कार्माण वर्गणा रूप वे जब, बन्ध पावें जीव में।
आत्मा हि जीव परिणाम भावों का तभी हेतू बने ॥१३६॥

जो कर्मरूप परिणाम, जीव के साथ पुद्गल का बने।
तो जीव अरु पुद्गल, उभय ही कर्मपन पावें अरे ॥१३७॥

पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गल द्रव्य के।
जीव भाव हेतु से पृथक्, तब कर्म के परिणाम हैं ॥१३८॥

जीव में करम के साथ ही, जो भाव रागादिक बने।
तो कर्म अरु जीव उभय ही, रागादिपन पावें अरे ॥१३९॥

पर परिणमन रागादिरूप तो, होत है जीव एक के।
इससे हि कर्मोदय निमित्त से, पृथक् जीव परिणाम है ॥१४०॥

हैं कर्म जीव में बद्ध-स्पृष्ट, जु कथन यह व्यवहार का।
पर बद्ध-स्पृष्ट न कर्म जीव में, कथन है नय शुद्ध का ॥१४१॥

हैं कर्म जीव में बद्ध वा अनबद्ध ये नयपक्ष है।
परपक्ष से अतिक्रान्त भाषित, वो समय का सार है ॥१४२॥

नयद्वय कथन जाने हि, केवल समय में प्रतिबद्ध जो।
नयपत्त कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपत्त से परिहीन वो ॥१४३॥

सम्यक्त्व और सुज्ञान की, जिस एक को संज्ञा मिले।
नयपत्त सकल विहीन भाषित, वो समय का सार है ॥१४४॥

जिनधर्म मे तो यह आम्नाय है कि पहले बडा पाप छुडाकर फिर छोटा पाप छुडाया है, इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बडा पाप जानकर पहले छुडाया है। इसलिये जो पाप से डरते है, अपने आत्मा को दु ख-समुद्र मे नही डुबाना चाहते है, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोडो, निन्दा-प्रशसादिक के विचार से शिथिल होना योग्य नही है।

— मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १९२

३. पुण्य-पाप अधिकार

है कर्म अशुभ कुशील अरु जानो सुशील शुभकर्म को।
किस रीत होय सुशील, जो संसार में दाखिल करे ॥१४५॥

ज्यों लोह की त्यों कनक की जंजीर जकड़े पुरुष को।
इस रीत से शुभ या अशुभकृत, कर्म बाँधे जीव को ॥१४६॥

इससे करो नहिं राग वा संसर्ग उभय कुशील का।
इस कुशील के संसर्ग से है, नाश तुझ स्वातंत्र्य का ॥१४७॥

जिस भाँति कोई पुरुष, कुत्सितशील जन को जान के।
संसर्ग उसके साथ त्यों ही, राग करना परित्यजे ॥१४८॥

यों कर्मप्रकृति शील और स्वभाव कुत्सित जान के।
निजभाव में रत–राग अरु संसर्ग उसका परित्यजे ॥१४९॥

जीव रागी बांधे कर्म को, वैराग्यगत मुक्ति लहे।
ये जिन प्रभू उपदेश है, नहिं रक्त हो तू कर्म से ॥१५०॥

परमार्थ है निश्चय, समय, शुद्ध, केवली, मुनि, ज्ञानी है।
तिष्ठे जु उस हि स्वभाव मुनिवर, मोक्ष की प्राप्ति करे ॥१५१॥

परमार्थ में नहिं तिष्ठ कर, जो तप करें व्रत को धरें।
तप सर्व उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवर ने कहे ॥१५२॥

व्रत-नियम को धारें भले, तप शील को भी आचरें।
परमार्थ से जो बाह्य वो, निर्वाण-प्राप्ति नहिं करें ॥१५३॥

परमार्थ-बाहर जीवगण, जानें न हेतू मोक्ष का।
अज्ञान से वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसार का ॥१५४॥

जीवादि का श्रद्धान समकित, ज्ञान उसका ज्ञान है।
रागादि-वर्जन चरित है, अरु ये हि मुक्ति-पन्थ है ॥१५५॥

विद्वान जन भूतार्थ तज, व्यवहार में वर्तन करें।
पर कर्म-नाश विधान तो, परमार्थ आश्रित सन्त के ॥१५६॥

मल मिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
मिथ्यात्व-मल के लेप से, सम्यक्त्व त्यों ही जानना ॥१५७॥

मल मिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
अज्ञान-मल के लेप से, सद्ज्ञान त्यों ही जानना ॥१५८॥

मल मिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का ।
चारित्र पावे नाश, लिप्त कषाय-मल से जानना ॥१५६॥

यह सर्वज्ञानी-दर्शी भी, निजकर्म रज आच्छाद से ।
संसार-प्राप्त न जानता वो, सर्व को सब रीत से ॥१६०॥

सम्यक्त्व-प्रतिबन्धक करम, मिथ्यात्व जिनवर ने कहा ।
उसके उदय से जीव मिथ्यात्वी बने यह जानना ॥१६१॥

त्यों ज्ञान-प्रतिबन्धक करम, अज्ञान जिनवर ने कहा ।
उसके उदय से जीव अज्ञानी बने यह जानना ॥१६२॥

चारित्र-प्रतिबन्धक करम, जिन ने कषायों को कहा ।
उसके उदय से जीव चारितहीन हो यह जानना ॥१६३॥●

४. आस्रव अधिकार

मिथ्यात्व अविरत अरु कषायें, योग संज्ञ-असंज्ञ हैं।
ये विविध भेद जु जीव में, जीव के अनन्य हि भाव हैं ॥१६४॥

अरु वे हि ज्ञानावरन आदि, कर्म के कारण बनें।
उनका भी कारण जीव बने, जो राग-द्वेषादिक करे ॥१६५॥

सद्दृष्टि को आस्रव नहीं, नहिं बंध आस्रवरोध है।
नहिं बांधता जाने हि पूर्वनिबद्ध जो सत्ताविषैं ॥१६६॥

रागादियुत जो भाव जीवकृत, उस हि को बंधक कहा।
रागादि से प्रविमुक्त ज्ञायक मात्र बंधक नहिं रहा ॥१६७॥

फल पक्व खिरता वृन्तसह, सम्वन्ध फिर पाता नहीं।
त्यों कर्मभाव खिरा पुनः जीव में उदय पाता नहीं ॥१६८॥

जो सर्व पूर्वनिवद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानी के।
वे पृथ्विपिण्ड समान हैं, कार्मणशरीर निवद्ध हैं ॥१६९॥

चउविध आस्त्रव समय समय, ज्ञानदर्शन गुण हि से।
वहु भेद वाँधे कर्म, इससे ज्ञानी वंधक नाहिं है ॥१७०॥

जो ज्ञानगुण की जघनता में, वर्तता गुण ज्ञान का।
फिर-फिर प्रणमता अन्यरूप जु, उस हि से वंधक कहा ॥१७१॥

चारित्र दर्शन ज्ञान तीन, जघन्य भाव जु परिणमे।
उससे ही ज्ञानी विविध पुद्गलकर्म से वंधात है ॥१७२॥

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते सद्दृष्टि के।
उपयोग के प्रायोग्य बन्धन, कर्म भावों से करे ॥१७३॥

सत्ताविषैं वे निरुपभोग्य हिं, बालिका ज्यों पुरुष को।
उपभोग्य बनतें वे हि बाँधें, यौवना ज्यों पुरुष को ॥१७४॥

अनभोग्य रह उपभोग्य जिस विध होय उस विध बाँधते।
ज्ञानावरण इत्यादि कर्म जु सप्त-अष्ट प्रकार के ॥१७५॥

इस हेतु से सम्यक्त्वसंयुत, जीव अनबन्धक कहे।
आस्रव भाव अभाव में, प्रत्यय नहीं बन्धक कहे ॥१७६॥

नहिं राग-द्वेष न मोह ये, आस्रव नहीं सद्दृष्टि के।
इससे ही आस्रवभाव बिन, प्रत्यय नहीं हेतू बनें ॥१७७॥

हेतू चतुर्विध कर्म अष्ट प्रकार का कारण कहा।
उनसे हि रागादिक कहा, रागादि नहिं वहाँ बन्ध ना ॥१७८॥

जन से ग्रहित आहार ज्यों, उदराग्नि के संयोग से।
बहुभेद माँस, वसा अरु, रुधिरादि भावों परिणमे ॥१७९॥

त्यों ज्ञानी के भी पूर्वकाल-निबद्ध जो प्रत्यय रहे।
बहुभेद बाँधे कर्म, जो जीव शुद्धनय परिच्युत बने ॥१८०॥

आस्रवतत्त्व में जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं, उन्हें हेय जानता है, अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं, उन्हें उपादेय मानता है, परन्तु ये तो दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है।

— पण्डित टोडरमलजी : मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२६

५. संवर अधिकार

उपयोग में उपयोग है, उपयोग नहिं क्रोधादि में।
है क्रोध क्रोधविषै ही निश्चय, क्रोध नहिं उपयोग में ॥१८१॥

उपयोग है नहिं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्म में।
ये कर्म अरु नोकर्म भी कुछ हैं नहीं उपयोग में ॥१८२॥

ऐसा अविपरित ज्ञान जब ही प्रगटता है जीव के।
तब अन्य नहिं कुछ भाव वह उपयोग शुद्धात्मा करे ॥१८३॥

ज्यों अग्नि-तप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्म उदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानीपना तजे ॥१८४॥

जीव ज्ञानी जाने यहि, अरु अज्ञानी राग हि जीव गिनें ।
आत्मस्वभाव अजान जो, अज्ञानतम आच्छाद से ॥१८५॥

जो शुद्ध जाने आत्म को, वो शुद्ध आत्मा प्राप्त हो ।
अनशुद्ध जाने आत्म को, अनशुद्ध आत्मा प्राप्त हो ॥१८६॥

शुभ अशुभ से जो रोककर, निज आत्म को आत्मा हि से ।
दर्शन अवरु ज्ञान हि ठहर, परद्रव्य इच्छा परिहरे ॥१८७॥

जो सर्वसंग-विमुक्त ध्यावे, आत्म से आत्मा हि को ।
नहिं कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्व को ॥१८८॥

वह आत्मध्याता, ज्ञानदर्शनमय अनन्यमयी हुआ ।
बस अल्पकाल हि कर्म से परिमोक्ष पावे आत्म का ॥१८९॥

रागादि के हेतू कहे, सर्वज्ञ अध्यवसान को।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव त्यों ही योग को ॥१९०॥

कारण अभाव अवश्य आस्रवरोध ज्ञानी को बने।
आस्रवभाव अभाव में, नहिं कर्म का आना बने ॥१९१॥

है कर्म के जु अभाव से, नोकर्म का रोधन बने।
नोकर्म का रोधन हुए, संसार से रोधन बने ॥१९२॥

जिन्दगी छोटी है और जंजाल लम्बा है, इसलिए जंजाल छोटा कर तो सुखरूप जिन्दगी लम्बी लगेगी।

– श्रीमद् राजचन्द्र विराग-सरिता, पृष्ठ ४

६. निर्जरा अधिकार

चेतन अचेतन द्रव्य का, उपभोग इन्द्रि-समूह से।
जो जो सद्दृष्टि करे वह सब निर्जरा कारण बनें ॥१६३॥

परद्रव्य के उपभोग निश्चय, दुःख वा सुख होय है।
इन उदित सुख-दुख भोगता, फिर निर्जरा हो जाय है ॥१६४॥

ज्यों जहर के उपभोग से भी, वैद्यजन मरता नहीं।
त्यों उदयकर्म जु भोगता भी, ज्ञानीजन बँधता नहीं ॥१६५॥

ज्यों अरतिभाव जु मद्य पीकर, मत्त जन बनता नहीं।
द्रव्योपभोगविषैं अरत, ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं ॥१६६॥

सेवता हुआ नहिं सेवता, नहिं सेवता सेवक बने।
प्रकरणतनी चेष्टा करे, अरु प्राकरण ज्यों नहिं हुए ॥१९७॥

कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवर ने कहे।
वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥१९८॥

पुद्‌गलकरमरूप राग का हि, विपाकरूप है उदय ये।
ये हैं नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ ॥१९९॥

सद्‌दृष्टि ऐसे आत्म को, ज्ञायकस्वभाव ही जानता।
अरु उदय कर्मविपाक को, वह तत्त्वज्ञायक छोड़ता ॥२००॥

अणुमात्र भी रागादि का सद्‌भाव है जिस जीव को।
वह सर्व आगमधर भले ही, जानता नहिं आत्म को ॥२०१॥

नहिं जानता जहँ आत्म को, अनात्म भी नहिं जानता ।
वह क्यों हि होय सुदृष्टि जो, जीव-अजीव को नहिं जानता ॥२०२॥

जीव में अपद्भूत द्रव्यभाव को छोड़, ग्रह तू यथार्थ से ।
थिर, नियत एकहि भाव यह, उपलभ्य जो हि स्वभाव से ॥२०३॥

मति श्रुत अवधि मनः केवल, सबहि एकहि पद जु है ।
वह ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ति लहे ॥२०४॥

रे ज्ञानगुण से रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके ।
तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्म-मोक्षेच्छा तुझे ॥२०५॥

इसमें सदा रतिवन्त बन, इसमें सदा संतुष्ट रे ।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे ॥२०६॥

परद्रव्य यह मुझ द्रव्य, यों तो कौन ज्ञानीजन कहे।
निज आत्म को निज का परिग्रह जानता जो नियम से ॥२०७॥

परिग्रह कभी मेरा बने, तो मैं अजीव बनूँ अरे।
मैं नियम से ज्ञाता हि, इससे नहिं परिग्रह मुझ बने ॥२०८॥

छेदाय या भेदाय, को ले जाय, नष्ट, बनो भले।
या अन्य को रीत जाय, पर परिग्रह न मेरा है अरे ॥२०९॥

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पुण्य इच्छा ज्ञानी के।
इससे न परिग्रही पुण्य का, वह पुण्य का ज्ञायक रहे ॥२१०॥

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पाप इच्छा ज्ञानी के।
इससे न परिग्रही पाप का, वह पाप का ज्ञायक रहे ॥२११॥

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं अशन इच्छा ज्ञानी के।
इससे न परिग्रही अशन का, वह अशन का ज्ञायक रहे ॥२१२॥

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पान इच्छा ज्ञानी के।
इससे न परिग्रही पान का, वह पान का ज्ञायक रहे ॥२१३॥

ये आदि विध-विध भाव बहु, ज्ञानी न इच्छे सर्व को।
सर्वत्र आलम्बन रहित वस, नियत ज्ञायकभाव वो ॥२१४॥

साम्प्रत उदय के भोग में जु वियोगबुद्धि ज्ञानी के।
अरु भावि कर्मविपाक की, कांक्षा नहीं ज्ञानी करे ॥२१५॥

रे वेद्य-वेदक भाव दोनों, समय-समय विनष्ट है।
ज्ञानी रहे ज्ञायक, कदापि न उभय की कांक्षा करे ॥२१६॥

संसार देह सम्बन्धि अरु बन्धोपयोग निमित्त जो।
उन सर्व अध्यवसान उदय जु राग होय न ज्ञानी को ॥२१७॥

हो द्रव्य सबमें रागवर्जक ज्ञानी कर्मों मध्य में।
पर कर्मरज से लिप्त नहिं, ज्यों कनक कर्दम मध्य में ॥२१८॥

पर द्रव्य सबमें रागशील, अज्ञानी कर्मों मध्य में।
वह कर्म रज से लिप्त हो, ज्यों लोह-कर्दम मध्य में ॥२१९॥

ज्यों शंख विविध सचित्त, मिश्र, अचित्त वस्तु भोगते।
पर शंख के शुक्लत्व को नहिं, कृष्ण कोई कर सके ॥२२०॥

त्यों ज्ञानी भी मिश्रित, सचित्त, अचित्त, वस्तु भोगते।
पर ज्ञान ज्ञानी का नहीं, अज्ञान कोई कर सके ॥२२१॥

जब ही स्वयं वह शंख, तजकर स्वयं श्वेत स्वभाव को।
पावे स्वयं कृष्णत्व तब ही, छोड़ता शुक्लत्व को ॥२२२॥

त्यों ज्ञानी भी जब ही स्वयं निज, छोड़ ज्ञानस्वभाव को।
अज्ञानभावों परिणमे, अज्ञानता को वह प्राप्त हो ॥२२३॥

ज्यों जगत में को पुरुष, वृत्तिनिमित्त सेवे भूप को।
तो भूप भी सुखजनक विध-विध भोग देवे पुरुष को ॥२२४॥

त्यों जीव पुरुष भी कर्मरज का सुख अर्थ सेवन करे।
तो कर्म भी सुखजनक विध-विध भोग देवे जीव के ॥२२५॥

अरु वह ही नर जब वृत्ति हेतू भूप को सेवे नहीं।
तो भूप भी सुखजनक विध-विध भोग को देवे नहीं ॥२२६॥

सद्दृष्टि को त्यों विषयहेतू कर्मरज सेवन नहीं।
तो कर्म भी सुखजनक विध-विध भोग को देता नहीं ॥२२७॥

सम्यक्त्वी जीव होते निःशंकित इस हि से निर्भय रहें।
हैं सप्तभय प्रविमुक्त वे, इस ही से निःशंक हैं ॥२२८॥

जो कर्मबन्धन मोहकर्त्ता, पाद चारों छेदता।
चिन्मूर्ति वह शंका रहित, सम्यक्त्व दृष्टि जानना ॥२२९॥

जो कर्म फल अरु सर्व धर्मों की न कांक्षा धारता।
चिन्मूर्ति वह कांक्षा रहित, सम्यक्त्व दृष्टि जानना ॥२३०॥

सब वस्तुधर्म विषैं जुगुप्साभाव जो नहिं धारता।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वह, सद्दृष्टि निश्चय जानना ॥२३१॥

संमूढ़ नहिं सब भाव में जो सत्यदृष्टि धारता।
वह मूढ़दृष्टि विहीन सम्यक् दृष्टि निश्चय जानना ॥२३२॥

जो सिद्धभक्ति सहित है, गोपन करे सब धर्म का।
चिन्मूर्ति वह उपगूहन कर, सम्यक्त्व दृष्टि जानना ॥२३३॥

उन्मार्ग जाते स्वात्म को भी, मार्ग में जो स्थापता।
चिन्मूर्त वह थितिकरणयुत, सम्यक्त्व दृष्टि जानना ॥२३४॥

जो मोक्षपथ में साधु त्रय का, वत्सलत्व करे अहा।
चिन्मूर्ति वह वात्सल्ययुत, सम्यक्त्व दृष्टि जानना ॥२३५॥

चिन्मूर्ति मनरथ-पन्थ में, विद्या रथारूढ़ घूमता।
जिनराज ज्ञान प्रभावकर सम्यक्त्व दृष्टि जानना ॥२३६॥●

७. बन्ध अधिकार

जिस रीत कोई पुरुष मर्दन आप करके तेल का।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रज भरे स्थानक खड़ा ॥२३७॥

अरु ताड़, कदली, बाँस आदि छिन्न-भिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्यों का करे ॥२३८॥

बहु भाँति के करणादि से, उपघात करते उस हि को।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबन्ध है किन कारणों ॥२३९॥

यों जानना निश्चयपने, चिकनाइ जो उस नरविषैं।
रजबन्ध कारण वह ही है, नहिं काय चेष्टा शेष है ॥२४०॥

चेष्टा विविध में वर्तता, इस भाँति मिथ्यादृष्टि जो।
उपयोग में रागादि करता, रज हि से लेपाय वो ॥२४१॥

जिस रीत फिर वह ही पुरुष, उस तेल सब को दूर कर।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रज भरे स्थानक ठहर ॥२४२॥

अरु ताड़, कदली, बाँस आदि छिन्न-भिन्न बहु करे।
उपघात स्वयं सचित्त अवरु अचित्त द्रव्यों का करे ॥२४३॥

बहु भाँति के करणादि से, उपघात करते उस हि को।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबन्ध नहिं किन कारणों ॥२४४॥

यों जानना निश्चयपने चिकनाइ जो उस नरविषैं।
रजबन्ध कारण वह ही है, नहिं कायचेष्टा शेष है ॥२४५॥

योगों विविध में वर्तता, इस भाँति सम्यग्दृष्टि जो।
उपयोग में रागादि न करे, रज हि नहिं लेपाय वो ॥२४६॥

जो मानता 'मैं मारुँ पर, अरु घात पर मेरा करे।'
वह मूढ़ है, अज्ञानी है, विपरीत इससे ज्ञानी है ॥२४७॥

है आयुक्षय से मरण जीव का, ये ही जिनवर ने कहा।
तू आयु तो हरता नहीं, तूने मरण कैसे किया ॥२४८॥

है आयुक्षय से मरण जीव का, ये हि जिनवर ने कहा।
वे आयु तुझ हरते नहीं, तो मरण तुझ कैसे किया ॥२४९॥

जो मानता 'मैं पर जिलाऊँ, मुझ जीवन पर से रहे।'
वह मूढ़ है, अज्ञानी है, विपरीत इससे ज्ञानी है ॥२५०॥

जीतव्य जीव का आयूदय से, ये ही जिनवर ने कहा।
तू आयु तो देता नहीं तूने जीवन कैसे दिया ॥२५१॥

जीतव्य जीव का आयूदय से, ये ही जिनवर ने कहा।
वे आयु तुझ देते नहीं, तो जीवन तुझ कैसे दिया ॥२५२॥

जो आपसे माने 'दुखी-सुखी, मैं करूँ परजीव को।'
वह मूढ़ है, अज्ञानी है, विपरीत इससे ज्ञानी है ॥२५३॥

जहँ कर्म उदय जु जीव सब ही, दुखित अवरु सुखी बनें।
तू कर्म तो देता नहीं, तू कैसे दुखित-सुखी करे ॥२५४॥

जहँ कर्म उदय जु जीव सब ही, दुखित अवरु सुखी बनें।
वे कर्म तुझ देते नहीं, तो दुखित तुझ कैसे करें ॥२५५॥

जहँ कर्म उदय जु जीव सब ही, दुखित अवरु सुखी बनें।
वे कर्म तुझ देते नहीं, तो सुखित तुझ कैसे करें ॥२५६॥

मरता दुखी होता जु जीव, सब कर्म उदयों से बनें।
मुझसे मरा अरु दुखी हुआ, क्या मत न तुझ मिथ्या अरे ॥२५७॥

अरु नहिं मरे नहिं दुखी बने, वे कर्म उदयों से बने।
'मैंने न मारा दुखी किया' क्या मत न तुझ मिथ्या अरे ॥२५८॥

ये बुद्धि तेरी 'दुखित अरु सुखी करूँ हूँ जीव को।'
वह मूढ़मति तेरी अरे, शुभ-अशुभ बाँधे कर्म को ॥२५९॥

करता तू अध्यवसान 'दुखित-सुखी करूँ हूँ जीव को।'
वह बाँधता है पाप को या बाँधता है पुण्य को ॥२६०॥

करता तू अध्यवसान 'मैं मारूँ-जिवाऊँ जीव को।'
वह "बाँधता है पाप को या बाँधता है पुण्य को ॥२६१॥

मारो न मारो जीव को, है बन्ध अध्यवसान से।
यह आतमा के बन्ध का, संक्षेप निश्चयनय विषैं ॥२६२॥

यों झूठ माँहि अदत्त में, अब्रह्म अरु परिग्रह विषैं।
जो होय अध्यवसान, उससे पाप बन्धन होय है ॥२६३॥

इस रीत सत्य रु दत्त में, त्यों ब्रह्म अपरिग्रह विषैं।
जो होय अध्यवसान, उससे पुण्य बन्धन होय है ॥२६४॥

जो होय अध्यवसान जीव के, वस्तु आश्रित वह बने।
परवस्तु से नहिं बन्ध, अध्यवसान से ही बन्ध है ॥२६५॥

करता दुखी-सुखी जीव को, अरु बद्ध-मुक्त करूँ अरे।
ये मूढ़मति तुझ है निरर्थक, इस हि से मिथ्या ही है ॥२६६॥

सब जीव अध्यवसान कारण, कर्म से बँधते जहाँ।
अरु मोक्षमग स्थित जीव छूटें, तू हि क्या करता भला ॥२६७॥

तिर्यञ्च, नारक, देव, मानव, पुण्य-पाप अनेक जे।
उन सर्वरूप करै जु निज को जीव अध्यवसान से ॥२६८॥

अरु त्यों हि धर्म-अधर्म, जीव-अजीव लोक-अलोक जे।
उन सर्वरूप करै जु जिन को जीव अध्यावसान से ॥२६९॥

इन आदि अध्यवसान विध-विध, वर्तते नहिं जिन हि को।
शुभ-अशुभ कर्म अनेक से, मुनिराज वे नहिं लिप्त हों ॥२७०॥

जो बुद्धि, मति, व्यवसाय, अध्यवसान अरु विज्ञान है।
परिणाम, चित्त रु भाव सर्व ही शब्द ये एकार्थ हैं ॥२७१॥

व्यवहारनय इस रीत जान, निषिद्ध निश्चयनय हि से।
मुनिराज जो निश्चयनय आश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करे ॥२७२॥

जिनवर प्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ति अरु तप, शील को।
करता हुआ भी अभव्य जीव, अज्ञानी – मिथ्यादृष्टि है ॥२७३॥

मोक्ष की श्रद्धा विहीन, अभव्य जीव शास्त्रों पढ़ै।
पर ज्ञान की श्रद्धा रहित को, पठन ये नहिं गुण करै ॥२७४॥

जो धर्म को श्रद्धे, प्रतीति, रुचि अरु स्पर्शन करे।
वह भोग हेतू धर्म को, नहिं कर्म-क्षय के हेतु को ॥२७५॥

आचाराङ्ग आदि ज्ञान हैं, जीवादि दर्शन जानना।
षट् जीवकाय चारित्र हैं, ये कथन नय व्यवहार का ॥२७६॥

मुझ आत्मा ही ज्ञान है, दर्शन यही चारित्र है।
मुझ आत्मा प्रत्याख्यान, अरु आत्मा संवर योग है ॥२७७॥

ज्यों स्फटिकमणि है शुद्ध, आप न रक्त रूप जु परिणमे।
पर अन्य रक्त पदार्थ से, रक्तादिरूप जु परिणमे ॥२७८॥

त्यों ज्ञानी भी है शुद्ध, आप न रागरूप जु परिणमे।
पर अन्य जो रागादि दूषण, उनसे ही रागी बने ॥२७९॥

कभी राग-द्वेष-विमोह अरु कषायभाव जु निजविषैं।
ज्ञानी स्वयं करता नहीं, इससे न तत्कर्त्ता बने ॥२८०॥

ये राग-द्वेष-कषाय कर्म निमित्त होवें भाव जो ।
उन रूप जो जीव परिणमें, फिर बाँधता रागादि को ॥२८१॥

यों राग-द्वेष-कषाय कर्म निमित्त होवें भाव जो ।
उन रूप आत्मा परिणमें, सो बाँधता रागादि को ॥२८२॥

अप्रतिक्रमण दो भाँति, अप्रत्याख्यान भी दो भाँति हैं ।
जीव को अकारक है कहा, इस रीति के उपदेश से ॥२८३॥

अप्रतिक्रमण दो द्रव्य-भाव, जु यों हि अप्रत्याख्यान है ।
जीव को अकारक है, इस रीत के उपदेश से ॥२८४॥

अप्रतिक्रमण अरु त्यों हि अप्रत्याख्यान द्रव्य रु भाव का ।
जब तक करे है आत्मा, कर्त्ता बनें है जानना ॥२८५॥

हैं अधःकर्मादि जु पुद्गलद्रव्य के ही दोष ये।
कैसे करे ज्ञानी सदा, परद्रव्य के जो गुण हि हैं ॥२८६॥

उद्देशि त्यों ही अधःकर्मी पौद्गलिक यह द्रव्य जो।
कैसे हि मुझ कृत होय नित्य, अजीव कहा है जिस हि को ॥२८७॥●

हिंसा में मारने की बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना मरता नहीं है, यह अपनी द्वेष-परिणति से आप ही पाप बाँधता है। अहिंसा में रक्षा करने की बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु अवशेष हुए बिना वह जीता नहीं है, यह अपनी प्रशस्त राग-परिणति से आप ही पुण्य बाँधता है। इसप्रकार यह दोनों हेय हैं; जहाँ वीतराग होकर दृष्टा-ज्ञातारूप प्रवर्ते, वहाँ निर्बन्ध है सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न हो, तब तक प्रशस्तरागरूप प्रवर्त्तन करो; परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि यह बन्ध का कारण है, हेय है; श्रद्धान में इसे मोक्षमार्ग जाने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है। — पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२६

९. मोक्ष अधिकार

ज्यों पुरुष कोई वन्धनों, प्रतिवद्ध है चिरकाल का।
वह तीव्र-मन्द स्वभाव, त्यों ही काल जाने वन्ध का ॥२८८॥

पर जो करे नहिं छेद, तो छूटे न वन्धन वश रहे।
अरु काल वहुत हि जाय तो भी मुक्त वह नर नहिं वने ॥२८९॥

त्यों कर्मवन्धन के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग को।
जाने भले छूटे न जीव, जव शुद्ध हो तव मुक्त हो ॥२९०॥

जो वन्धनों से वद्ध, वह नहिं वन्ध-चिता से छूटे।
त्यों जीव भी इन वन्ध की चिंता वश से नहिं छूटे ॥२९१॥

जो बन्धनों से बद्ध नर, वह बन्ध छेदन से छूटे।
त्यों जीव भी इन बन्धनों का, छेद कर मुक्ति वरे ॥२६२॥

रे जानकर बन्धन स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्म का।
जो बन्ध में हि विरक्त होवें, कर्म-मोक्ष करें अहा ॥२६३॥

छेदन करो जीव बन्ध का तुम नियत निज-निज चिन्ह से।
प्रज्ञा-छैनी से छेदते दोनों पृथक् हो जाय हैं ॥२६४॥

छेदन होवे जीव बन्ध का, जब नियत निज-निज चिन्ह से।
तब छोड़ना इस बन्ध को, जीव ग्रहण करना शुद्ध को ॥२६५॥

यह जीव कैसे ग्रहण हो? जीव का ग्रहण प्रज्ञा हि से।
ज्यों अलग प्रज्ञा से किया, त्यों ग्रहण भी प्रज्ञा हि से ॥२६६॥

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, चेतक है सो मैं ही हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना ॥२९७॥

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, दृष्टा है सो मैं ही हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना ॥२९८॥

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, ज्ञाता है सो मैं ही हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना ॥२९९॥

सब भाव जो परकीय जाने, शुद्ध जाने आत्म को।
वह कौन ज्ञानी 'मेरा है यह'–यों वचन बोले अहो ॥३००॥

अपराध चौर्यादिक करैं, जो पुरुष वह शंकित फिरै।
को लोक में फिरते हुए, मुझे चोर जान जु बाँध ले ॥३०१॥

अपराध जो करता नहीं, निःशंक लोकविषैं फिरे।
'बँध जाऊँगा'–ऐसी कभी, चिंता न उसको होय है ॥२०२॥

त्यों आतमा अपराधी 'मैं बँधता हुँ'–यों हि सशंक है।
अरु निरपराधी आतमा, 'नाहीं बँधूँ' निःशंक है ॥२०३॥

संसिद्धि सिद्धि जु राध, अरु साधित अराधित एक है।
ये राध से जो रहित है, वह आतमा अपराध है ॥२०४॥

अरु आतमा जो निरपराधी, होय है निःशंक वो।
वर्ते सदा आराधना में, जानता 'मैं' आत्म को ॥२०५॥

प्रतिक्रमण अरु प्रतिसरण, परिहरण, निवृत्ति, धारणा।
अरु शुद्धि, निंदा, गर्हणा–ये अष्टविध विषकुम्भ हैं ॥२०६॥

अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण, अपरिहरण अनधारणा।
अनिवृत्ति, अनगर्हा, अनिन्द, अशुद्धि अमृतकुम्भ हैं ॥३०७॥

वहाँ कितने ही जीव कुलप्रवृत्ति से अथवा देखा-देखी लोभादि के अभिप्राय से धर्म साधते हैं, उनके तो धर्मदृष्टि नहीं है। यदि भक्ति करते हैं तो चित्त तो कही है, दृष्टि घूमती रहती है और मुख से पाठादि करते हैं व नमस्कारादि करते है; परन्तु यह ठीक नहीं है। मै कौन हूँ, किसकी स्तुति करता हूँ, किस प्रयोजन के अर्थ स्तुति करता हूँ, पाठ मे क्या अर्थ है सो कुछ पता नहीं है।

— पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२०

१०. सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

जो द्रव्य उपजे जिन गुणों से, जान उनसे अनन्य वो।
है जगत में कटकादि पर्यायों से कनक अनन्य ज्यों ॥३०८॥

जीव-अजीव के परिणाम जो, शास्त्रों विषैं जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से ॥३०९॥

उपजे न आत्मा कोई से, इससे न आत्मा कार्य है।
उपजावता नहिं कोई को, इससे न कारण भी बने ॥३१०॥

रे! कर्म आश्रित होय कर्त्ता, कर्म भी करतार के।
आश्रित हुए उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धि दिखे ॥३११॥

यह जीव प्रकृति के निमित्त जु, नशाता उपजता है अरे।
अरु प्रकृति का जीव के निमित्त, विनाश अरु उत्पाद है ॥३१२॥

अन्योन्य के जु निमित्त से, यों बन्ध दोनों का बने।
इस जीव प्रकृति उभय का, संसार इससे होय है ॥३१३॥

उत्पाद-व्यय प्रकृति-निमित्त जु, जब हि तक नहिं परितजे।
अज्ञानी, मिथ्यात्वी, असंयत, तब हि तक वह जीव रहे ॥३१४॥

ये आतमा जब ही करम का, फल अनन्ता परितजे।
ज्ञायक तथा दर्शक तथा मुनि वो हि कर्मविमुक्त है ॥३१५॥

अज्ञानी स्थित प्रकृति स्वभाव में, कर्मफल को वेदता।
अरु ज्ञानी तो जाने उदयगत, कर्मफल नहिं भोगता ॥३१६॥

सद्रीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृति अभव्य नहीं तजे।
ज्यों दूध-गुड़ पीता हुआ भी, सर्प नहिं निर्विष बने ॥३१७॥

वैराग्य प्राप्त जु ज्ञानीजन है, कर्मफल को जानता।
कड़वे-मधुर बहु भाँति को, इससे अवेदक है अहा ॥३१८॥

करता नहीं, नहिं वेदता, ज्ञानी करम बहु भाँति को।
बस जानता ये बन्ध त्यों ही कर्मफल शुभ-अशुभ को ॥३१९॥

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय, निर्जरा, बन्ध त्यों ही मोक्ष को ॥३२०॥

ज्यों लोक माने 'देव नारक आदि जीव विष्णु करे'।
त्यों श्रमण भी माने कभी, 'षट्काय को आत्मा करे' ॥३२१॥

तो लोक-मुनि सिद्धान्त एक हि, भेद इसमें नहिं दिखे।
विष्णु करे ज्यों लोकमत में, श्रमणमत आत्मा करे ॥३२२॥

इस भाँति लोक-मुनि उभय का, मोक्ष कोई नहिं दिखे।
जो देव, मानव, असुर के, त्रय लोक को नित्य हि करे ॥३२३॥

व्यवहार मूढ़ अतत्त्वविद्, परद्रव्य को मेरा कहे।
'अणुमात्र भी मेरा न' ज्ञानी, जानता निश्चय हि से ॥३२४॥

ज्यों पुरुष कोई कहे 'हमारा ग्राम, पुर, अरु देश है'।
पर वह नहीं उसके अरे! जीव मोह में 'मेरा' कहे ॥३२५॥

इस रीत ही ज्ञानी भी 'मुझ' जानता परद्रव्य को।
वह अवश्य मिथ्यात्वी बने, निजरूप करता अन्य को ॥३२६॥

इससे 'न मेरा' जान जीव, परद्रव्य में इन उभय की।
कर्तृत्वबुद्धि जानता, जाने सुदृष्टि रहित की ॥३२७॥

मिथ्यात्व प्रकृति ही अगर, जो जीव को मिथ्यात्वी करे।
तो यह अचेतन प्रकृति ही, कारक बने तुझे मतविषैं ॥३२८॥

अथवा करे जो जीव, पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को।
तो वह बने मिथ्यात्वी पुद्गलद्रव्य आतमा नहिं बने ॥३२९॥

जो जीव अरु प्रकृति करे, मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
तो उभयकृत जो होय, तत्फल भोग भी हो उभय को ॥३३०॥

जो प्रकृति अरु जीव नहिं करे, मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
पुद्गलदरब मिथ्यात्व अकृत, क्या न यह मिथ्या कहो ॥३३१॥

कर्म हि करें अज्ञानी त्यों ही, ज्ञानी भी कर्म हि करें।
कर्म हि सुलाते जीव को, त्यों कर्म ही जागृत करें ॥३३२॥

अरु कर्म ही करते सुखी, कर्म ही दुखी जीव को करें।
कर्म हि करें मिथ्यात्वी त्यों ही, असंयमी कर्म ही करें ॥३३३॥

कर्म हि भ्रमावे ऊर्ध्व लोक रु, अधः अरु तिर्यक् विषैं।
अरु कुछ भी जो शुभ या अशुभ, उन सर्व को कर्म ही करे ॥३३४॥

करता करम, देता करम, हरता करम, सब-कुछ करे।
इस हेतु से यह है सुनिश्चित, जीव अकारक सर्व है ॥३३५॥

पुँस कर्म इच्छे नारी को, स्त्री कर्म इच्छे पुरुष को।
ऐसी श्रुती आचार्यदेव, परम्परा अवतीर्ण है ॥३३६॥

इस रीत 'कर्म हि कर्म को इच्छे' कहा है शास्त्र में।
अब्रह्मचारी यों नहीं को, जीव हम उपदेश में ॥३३७॥

अरु जो हने पर को, हनन हो पर से, वही प्रकृति है।
इस अर्थ में परघात नामक कर्म का निर्देश है ॥३३८॥

इस रीत 'कर्म ही हनता' कहा है शास्त्र में।
इससे न को भी जीव है, हिंसक जु हम उपदेश में ॥३३९॥

यों सांख्य का उपदेश—ऐसा जो श्रमण वर्णन करे।
उस मत से सब प्रकृति करे, जीव तो अकारक सर्व है ॥३४०॥

अथवा तू माने 'आतमा मेरा स्व-आत्मा को करे'।
तो ये जो तुझ मंतव्य भी, मिथ्या स्वभाव हि तुझ अरे ॥३४१॥

जीव नित्य है त्यों है असंख्य प्रदेशी दर्शित समय में।
उससे न उसको हीन, त्यों हि न अधिक, कोई कर सके ॥३४२॥

विस्तार से जीवरूप जीव का, लोकमात्र प्रमाण है।
क्या उससे हीन रु अधिक बनता द्रव्य को कैसे करे ॥३४३॥

माने तू 'ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव स्थित रहे'।
तो यों भी यह आत्मा स्वयं, निज आतमा को नहिं करे ॥३४४॥

पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
इससे करै है वही, या को अन्य, नहिं एकान्त है ॥३४५॥

पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
यों जीव वेदै वही, या को अन्य, नहिं एकान्त है ॥३४६॥

जीव जो करै वह भोगता नहिं, जिसका यह सिद्धान्त है।
अर्हन्त के मत का नहीं, वह जीव मिथ्यादृष्टि है ॥३४७॥

जीव अन्य करता अन्य वेदे, जिसका यह सिद्धान्त है।
अर्हन्त के मत का नहीं, वह जीव मिथ्यादृष्टि है ॥३४८॥

ज्यों शिल्पि कर्म करे, परन्तु वह नहीं तन्मय बने।
त्यों कर्म को आत्मा करे, पर वह नहीं तन्मय बने ॥३४९॥

ज्यों शिल्पि करणों से करे, पर वह नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों से करे, पर वह नहीं तन्मय बने ॥३५०॥

ज्यों शिल्पि करण ग्रहे, परन्तु वह नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों को ग्रहे, पर वह नहीं तन्मय बने ॥३५१॥

शिल्पि करमफल भोगता, पर वह नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करमफल भोगता, पर वह नहीं तन्मय बने ॥३५२॥

इस भाँति मत व्यवहार का, संक्षेप में वक्तव्य है।
सुन लो वचन परमार्थ का, परिणाम विषयक जो हि है ॥३५३॥

शिल्पि करे चेष्टा अवरु, उस ही से शिल्पि अनन्य है।
त्यों जीव कर्म करे अवरु, उस ही से जीव अनन्य है ॥३५४॥

चेष्टित हुआ शिल्पि निरंतर, दुखित जैसे होय है।
अरु दुःख से शिल्पि अनन्य, त्यों चेष्टमान जीव दुखी बने ॥३५५॥

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा ॥३५६॥

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शक नहीं त्यों अन्य का, दर्शक अहो दर्शक तथा ॥३५७॥

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
संयत नहीं त्यों अन्य का, संयत अहो संयत तथा ॥३५८॥

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शन नहीं त्यों अन्य का, दर्शन अहो दर्शन तथा ॥३५९॥

यों ज्ञान-दर्शन-चरित विषयक, कथन नय परमार्थ का।
सुन लो वचन संक्षेप से, इस विषय में व्यवहार का ॥३६०॥

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
ज्ञाता भी त्यों ही जानता, परद्रव्य को निज भाव से ॥३६१॥

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
आत्मा भी त्यों ही देखता, परद्रव्य को निज भाव से ॥३६२॥

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
ज्ञाता भी त्यों हि त्यागता, परद्रव्य को निज भाव से ॥३६३॥

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्य को निज भाव से ॥३६४॥

यों ज्ञान-दर्शन-चरित में, निर्णय कहा व्यवहार का।
अरु अन्य पर्यय विषय में भी इस प्रकार ही जानना ॥३६५॥

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित्, नहिं अचेतन विषय में।
इस हेतु से यह आतमा, क्या हन सके उन विषय में ॥३६६॥

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित्, नहिं अचेतन कर्म में।
इस हेतु से यह आतमा, क्या हन सके उन कर्म में ॥३६७॥

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किञ्चित्, नहिं अचेतन काय में।
इस हेतु से यह आतमा, क्या हन सके उन काय में ॥३६८॥

है ज्ञान का, सम्यक्त्व का, उपघात चारित्र का कहा।
वहाँ और कुछ भी नहिं कहा, उपघात पुद्गलद्रव्य का ॥३६९॥

जो जीव के गुण हैं नियत, वे कोई नहिं परद्रव्य में।
इस हेतु से सद्दृष्टि जीव को, राग नहिं है विषय में ॥३७०॥

अरु राग-द्वेष-विमोह तो, जीव के अनन्य परिणाम हैं।
इस हेतु से शब्दादि विषयों में नहीं रागादि हैं ॥३७१॥

को द्रव्य दूसरे द्रव्य में, उत्पाद नहिं गुण का करे।
इस हेतु से सब ही दरब, उत्पन्न आप स्वभाव से ॥३७२॥

पुद्गल दरब बहु भाँति निंदा-स्तुति वचनरूप परिणमे।
सुनकर उन्हें 'मुझको कहा', गिन रोष-तोष जु जीव करे ॥३७३॥

पुद्गल दरब शब्दत्व परिणत, उसका जो गुण अन्य है।
तो नहिं कहा कुछ भी तुझे, हे अबुध ! रोष तू क्यों करे ॥३७४॥

शुभ या अशुभ जो शब्द वह, 'तू सुन मुझे' ये नहीं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, कर्ण-गोचर शब्द को ॥३७५॥

शुभ या अशुभ जो रूप वह, 'तू देख मुझको' नहि कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे चक्षु-गोचर रूप को ॥३७६॥

शुभ या अशुभ जो गन्ध वह, 'तूं सूंघ मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, घ्राण-गोचर गन्ध को ॥३७७॥

शुभ या अशुभ रस कोई भी, 'तू चख मुझे' नहीं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, रसन-गोचर स्वाद को ॥३७८॥

शुभ या अशुभ जो स्पर्श वह, 'तू स्पर्श मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, काय-गोचर स्पर्श को ॥३७९॥

शुभ या अशुभ गुण कोई भी, 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, बुद्धि-गोचर गुण अरे ॥३८०॥

शुभ या अशुभ जो द्रव्य वह, 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, बुद्धि-गोचर द्रव्य रे ॥३८१॥

यह जानकर भी मूढ़ जीव, पावे नहीं उपशम अरे!
शिवबुद्धि को पाया नहीं, वह परग्रहण करना चहे ॥३८२॥

शुभ और अशुभ अनेक विध, के कर्म पूरव जो किये।
उनसे निवर्ते आत्म जो, वह आतमा प्रतिक्रमण है ॥३८३॥

शुभ अरु अशुभ भावी करम का, बन्ध हो जिन भाव में।
उनसे निवर्तन जो करे, वह आतमा प्रत्याख्यान है ॥३८४॥

शुभ और अशुभ अनेक विध, हैं उदित जो इस काल में।
उन दोष को जो चेतता, आलोचना वह जीव है ॥३८५॥

प्रत्याख्यान नित्य करे अरु, प्रतिक्रमण जो नित्य हि करे।
नित्य हि करे आलोचना, वह आतमा चारित्र है ॥३८६॥

जो कर्मफल को वेदता, जीव कर्मफल निजरूप करे।
वह पुनः बाँधे अष्ट विध के, कर्म को – दुख बीज को ॥३८७॥

जो कर्मफल को वेदता, जाने कर्मफल मैं किया।
वह पुनः बाँधे अष्ट विध के, कर्म को – दुख बीज को ॥३८८॥

जो कर्मफल को वेदता, जीव सुखी-दुखी जो होय है।
वह पुनः बाँधे अष्ट विध के, कर्म को – दुख बीज को ॥३८९॥

रे ! शास्त्र हैं नहिं ज्ञान, क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, शास्त्र अन्य प्रभु कहें ॥३९०॥

रे ! शब्द है नहिं ज्ञान, क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, शब्द अन्य प्रभु कहें ॥३९१॥

रे ! रूप है नहिं ज्ञान, क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, रूप अन्य प्रभु कहें ॥३९२॥

रे ! वर्ण है नहिं ज्ञान, क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, वर्ण अन्य प्रभु कहें ॥३९३॥

रे ! गन्ध है नहिं ज्ञान, क्योंकि गन्ध कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, गन्ध अन्य प्रभु कहें ॥३९४॥

रे ! रस नहीं है ज्ञान, क्योंकि रस जु कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, अन्य रस जिनवर कहें ॥३९५॥

रे ! स्पर्श है नहिं ज्ञान, क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, स्पर्श अन्य प्रभु कहें ॥३९६॥

रे ! कर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, कर्म अन्य जिनवर कहें ॥३९७॥

रे ! धर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, धर्म अन्य जिनवर कहें ॥३९८॥

नहिं है अधर्म जु ज्ञान, क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, अधर्म अन्य जिनवर कहें ॥३९९॥

रे ! काल है नहिं ज्ञान, क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, काल अन्य प्रभु कहें ॥४००॥

आकाश है नहिं ज्ञान, क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से आकाश अन्य रु, ज्ञान अन्य प्रभु कहें ॥४०१॥

रे! ज्ञान अध्यवसान नहिं, क्योंकि अचेतनरूप हैं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, अन्य अध्यवसान हैं ॥४०२॥

रे! सर्वदा जाने हि इससे, जीव ज्ञायक ज्ञानी है।
अरु ज्ञान है ज्ञायक से अव्यतिरिक्त यों ज्ञातव्य है ॥४०३॥

सम्यक्त्व अरु संयम तथा पूर्वांग-गत सब सूत्र जो।
धर्माधर्म दीक्षा सब हि, बुध पुरुष माने ज्ञान को ॥४०४॥

यों आतमा जिसका अमूर्त्तिक वह न आहारक बने।
पुद्गलमयी आहार यों, आहार तो मूर्त्तिक अरे ॥४०५॥

जो द्रव्य है उसमें ग्रहण अरु त्याग नहिं परद्रव्य का।
ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगिक अरु वैस्रसिक है ॥४०६॥

इस हेतु से जो शुद्ध आत्मा, वह नहीं कुछ भी ग्रहे।
अरु छोड़े नहीं कुछ भी अहो! जीव-अजीव रूप परद्रव्य में ॥४०७॥

मुनि लिंग को अथवा गृहस्थी लिंग को बहु भाँति के।
ग्रह कर कहत हैं मूढ़जन, 'यह लिंग मुक्तिमार्ग है' ॥४०८॥

वह लिंग मुक्तिमार्ग नहिं, अर्हंत निर्मम देह में।
बस लिंग तजकर ज्ञान अरु चारित्र दर्शन सेवते ॥४०९॥

मुनि लिंग अरु गृही लिंग ये, नहिं लिंग मुक्तिमार्ग हैं।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान को बस, मोक्षमार्ग प्रभु कहें ॥४१०॥

यों छोड़कर सागार या अनगार धारित लिंग को।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान में तू जोड़ रे! निज आत्म को ॥४११॥

तू स्थाप निज को मोक्षपथ में, ध्या अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्य में ॥४१२॥

बहु भाँति के मुनि लिंग में, अथवा गृहस्थी लिंग में।
ममता करे जो उसने, नहिं जाना 'समय के सार' को ॥४१३॥

व्यवहार नय इन लिंग-द्वय को मोक्ष के पथ में कहे।
निश्चय नहीं माने कभी, कोई लिंग मुक्तिपन्थ में ॥४१४॥

यह समयप्राभृत पठन करके, जान अर्थ रु तत्त्व से।
ठहरे अर्थ में जीव जो, वह सौख्य उत्तम परिणमे ॥४१५॥

卐 इति समयसार पद्यानुवादम् 卐

योगसार पद्यानुवाद

(दोहा)

निर्मल ध्यान लगाय के, कर्म कलंक जलाय।
भये सिद्ध परमात्मा, वन्दों मन-वच-काय ॥ १ ॥

चार घातिया घाति विधि, लिये अनन्त चतुष्ट।
तिन जिनवर को प्रणमि के, करों काव्य कछु सुष्ट ॥ २ ॥

भवदुःख से डर मोक्ष-हित, निज सम्बोध निमित्त।
भविजन हेतू रचत हों, दोहा दृढ करि चित्त ॥ ३ ॥

जीव काल संसार ये, कहे अनादि-अनन्त।
गहि मिथ्याश्रद्धान जिय, भ्रमे न सुक्ख लहन्त ॥ ४ ॥

देहादिक जो पर कहे, सो जाने निजरूप।
सो बहिरातम जिन कहे, करे भ्रमण भवकूप ॥ १० ॥

देहादिक पुद्गलमयी, सो जड़ है पर जान।
ज्ञाता-दृष्टा आप तू, चेतन निज पहचान ॥ ११ ॥

आप आपने रूप को, जाने सो शिव होय।
पर में अपनी कल्पना, करे भ्रमे जग सोय ॥ १२ ॥

विन इच्छा शुचि तप करे, लखे आप गुण आप।
निश्चय पावे परमपद, फिर न तपे भव-ताप ॥ १३ ॥

बन्ध विभाव परिणाम से, शिव स्वभाव से जान।
बन्ध-मोक्ष परिणाम से, कारण और न आन ॥ १४ ॥

स्वातम को जाने नहीं, करे पुण्य बस पुण्य।
तदपि भ्रमे संसार में, शिव-सुख कभी न होय ॥ १५ ॥

निज-दर्शन बस एक को, मोक्ष-हेतु तू जान।
हे योगी! नहिं और को, निश्चय से पहचान ॥ १६ ॥

गुणस्थान वा मार्गणा, कहत दृष्टि व्यवहार।
निश्चय आतमज्ञान ही, परमेष्ठी पदकार ॥ १७ ॥

गेह-कार्य यद्यपि करें, तदपि स्वानुभव दक्ष।
ध्यावे सदा जिनेश पद, होय मुक्त प्रत्यक्ष ॥ १८ ॥

जिन सुमरो जिन चिन्तवो, जिन ध्यावो मन शुद्ध।
लहो परमपद क्षणिक में, होकर के प्रतिबुद्ध ॥ १९ ॥

जिनवर अरु शुद्धातम में, किंचित् भेद न जान।
मोक्ष-अर्थ हे योगिजन! निश्चय से यह मान ॥ २० ॥

जो जिन सो आतम लखो, निश्चय भेद न रञ्च।
यही सार सिद्धान्त का, छोड़ो सर्व प्रपञ्च ॥ २१ ॥

जो परमातम सो ही मैं, मैं जो यही परमात्म।
ऐसा जान जु योगिजन, करिये कुछ न विकल्प ॥ २२ ॥

अगणित शुद्ध प्रदेशयुत, लोकाकाश प्रमाण।
सो शुद्धातम अनुभवो, शीघ्र लहो निर्वाण ॥ २३ ॥

निश्चय लोक प्रमाण है, तनु प्रमाण व्यवहार।
ऐसे आतम अनुभवै, सो पावै भव-पार ॥ २४ ॥

चौरासी लाख योनि में, भ्रम्यो सु काल अनन्त।
सम्यग्दर्शन के बिना, यह जानो निर्भ्रान्त ॥ २५ ॥

शुद्ध सचेतन बुद्ध जिन, केवलज्ञान स्वभाव।
वह आतम जानों सदा, जो चाहो शिव-लाभ ॥ २६ ॥

जब तक आतम-ज्ञान नहिं, मिथ्या क्रिया-कलाप।
भटके तीनों लोक में, शिव-सुख लहे न आप ॥ २७ ॥

ध्यावन योग्य त्रिलोक में, जिन सो आतम जान।
निश्चय से जिनवर कहैं, यामें भ्रान्ति न ठान ॥ २८ ॥

जब तक एक न जानता, परम पुनीत शुद्ध भाव।
मूढ़ों के व्रत-तप सभी, शिव-कारण न कहाय ॥ २९ ॥

जो शुद्धातम अनुभवै, व्रत-संयम संयुक्त ।
कहें जिनेश्वर जीव सो, निश्चय पावे मुक्त ।। ३० ।।

जब तक एक न जानता, परम पुनीत शुद्ध भाव ।
व्रत-संयम अरु शील-तप, निष्फल सारे जान ।। ३१ ।।

लहे पुण्य से स्वर्ग-सुख, पड़े नरक कर पाप ।
पुण्य-पाप तज आप में, रमै लहै शिव आप ।। ३२ ।।

व्रत-तप-संयम-शील जो, सो सब है व्यवहार ।
शिव-कारण जीव एक है, तीन लोक का सार ।। ३३ ।।

परख गहे निजभाव को, त्याग करे परभाव ।
सो शिव पावे जिन कहें, वृथा हि अन्य उपाव ।। ३४ ।।

षट्द्रव्यों जिन-उक्त रु, पदार्थ नव जो तत्त्व ।
कहें उसे व्यवहार से, जानो करी सुयत्न ॥ ३५ ॥

एक सचेतन जीव है, अन्य अचेतन ज्ञान ।
सो चेतन ध्यावो सदा, लहो तुरत शिव थान ॥ ३६ ॥

जो शुद्धातम अनुभवे, तजकर सब व्यवहार ।
शीघ्र मोक्षपद सो लहै, यों जिनवर दर्शाव ॥ ३७ ॥

जीव-अजीव के भेद का, ज्ञान वही है ज्ञान ।
कहत योगिजन योगि हे ! मोक्ष-हेतु यह जान ॥ ३८ ॥

कहत योगिजन जीव तू, जो चाहे शिवलाभ ।
केवलज्ञान स्वभावमय, आत्मतत्त्व को जान ॥ ३९ ॥

कौन किसे समता करे, सेवे पूजे कौन;
किस की स्पर्श-अस्पर्शता, ठगे कौन को कौन।

कौन किसे मैत्री करे, किस के साथ कलेश;
जहँ देखूँ तहँ सर्व जिय, शुद्ध बुद्ध ज्ञानेश ॥ ४० ॥

सद्गुरु वचन प्रसाद से, जाने न आतम-देव।
तब लग भ्रमे कुतीर्थ जिय, करे कपट के खेल ॥ ४१ ॥

तीर्थ जिनालय देव नहिं, यों श्रुतकेवली वाणी।
तन-मन्दिर में देव जिन, यह निश्चय से जान ॥ ४२ ॥

तन-मन्दिर में देव जिन, जन-मन्दिर देखन्त।
हास्य मुझे दीखे अरे, प्रभु भिक्षार्थ भ्रमन्त ॥ ४३ ॥

रे मूढ़! देव न मन्दिर, देव न मूर्ति, चित्र।
तन-मन्दिर में देव जिन, जान बनो समचित्त ॥ ४४ ॥

तीर्थ-दिवालय देव जिन, यों भाषें सब मूढ़।
तन-मन्दिर जिनदेव जिय, ज्ञानी जाने गूढ़ ॥ ४५ ॥

जन्म-मरण-रुज से डरे, धर्म महौषधि पीव।
अविनाशी तन ज्ञानमय, पाय सुखी हो जीव ॥ ४६ ॥

शास्त्र पढ़ें, मठ में रहें, सिर के लुँचैं केश।
पिच्छी-कमण्डल के धरैं, धर्म न होता लेश ॥ ४७ ॥

राग-द्वेष – दो त्याग के, निज में करे निवास।
जिनवर भाषित धर्म वह, पंचमगति ले जाय ॥ ४८ ॥

आयु गलै, मन ना गलै, गलै न इच्छा-मोह।
आतम-हित करते नहीं, यों भ्रमता संसार॥ ४६॥

ज्यों मन विषयों में रमें, त्यों हो आतम लीन।
शीघ्र मिलै निर्वाणपद, धरै न देह नवीन॥ ५०॥

नरकवास सम जर्जरित, जानो मलिन शरीर।
कर शुद्धातम भावना, शीघ्र लहो भव-तीर॥ ५१॥

व्यवहारिक धन्धों फँसे, करे न आतम-ज्ञान।
यही कारण जग-जीव ये, पावें नहिं निर्वाण॥ ५२॥

शास्त्र-पाठी भी मूर्ख है, जो निज-तत्त्व अजान।
यही कारण जड़ जीव ये, पावें नहिं निर्वाण॥ ५३॥

मन-इन्द्रिय से दूर हो ! क्या बहु पूछे बात ?
राग-प्रसार निवारतें, सहज स्वरूप उत्पाद ॥ ५४ ॥

जीव-पुद्गल दोउ भिन्न हैं, भिन्न सकल व्यवहार ।
तज पुद्गल, ग्रह जीव बस ! शीघ्र लहे भव-पार ॥ ५५ ॥

स्पष्ट न माने जीव को, जो नहिं जाने जीव ।
छूटे नहिं संसार से, कहते हैं प्रभु जिन ॥ ५६ ॥

रत्न-दीप रवि दूध-दधि, घृत पत्थर अरु हेम ।
रजत स्फटिक अरु अग्नि नव, उदाहरण जिय एम ॥ ५७ ॥

देहादिक को पर गिनें, जैसे शून्य आकाश ।
वह पावे पर-ब्रह्म झट, केवल करे प्रकाश ॥ ५८ ॥

जैसे शुद्ध आकाश है, तैसे शुद्ध है जीव।
जड़ जानो आकाश को, चेतन लक्षण जीव ॥ ५६ ॥

अन्तरङ्ग में ध्यान से, देखत जो अशरीर।
शर्म-जनक जन्म ना धरे, पिये न जननी-क्षीर ॥ ६० ॥

ज्ञानमयी अशरीरि-तन, पुद्गल-तन जड़ जान।
मिथ्या मोह जु दूर कर, तन भी मम नहिं मान ॥ ६१ ॥

आप आप अनुभव करे, को फल जो न लहन्त?
प्रगटत केवलज्ञान अरु, शाश्वत सुख विलसन्त ॥ ६२ ॥

जो परभाव तजी मुनि, जाने निज में आप।
केवलज्ञान स्वरूप लहि, नाश करे भव-ताप ॥ ६३ ॥

धन्य अहो! भगवन्त बुध, जो त्यागत परभाव।
लोकालोक प्रकाश कर, जाने विमल स्वभाव ॥ ६४ ॥

मुनिजन या कोई गृही, जो रहे आतम लीन।
शीघ्र सिद्धि-सुख सो लहे, यों कहते प्रभु जिन ॥ ६५ ॥

"विरला जानै तत्त्व को, अरु सुनन्त है कोई।
विरला ध्यावै तत्त्व को, विरला धारै कोई ॥ ६६ ॥"

यह परिवार न मम खरे, है सुख-दुःख की खान।
ज्ञानीजन यों चिन्त कर, शीघ्र करत भव-हान ॥ ६७ ॥

इन्द्र, नरेन्द्र, फणेन्द्र भी, नहीं शरण दातार।
अशरण जान, मुनिवरा, निजरूप वेदत आप ॥ ६८ ॥

जन्म-मरण इकला करे, सुख-दुःख भोगे एक।
नरक-गमन भी एकला, शिव-सुख पावे एक ॥ ६९ ॥

यदि तू जावे एकला, यह लख, तज परभाव।
आतमा ध्यावो ज्ञानमय, शीघ्र मोक्ष-सुख पाय ॥ ७० ॥

"पापरूप को पाप तो जानत जग सहु कोई।
पुण्यतत्त्व भी पाप है, कहत अनुभवी कोई ॥ ७१ ॥"

जैसे वेड़ी लोह की, त्यों सोने की जान।
करें शुभाशुभ दूर जो, ज्ञानी मर्म सु जान ॥ ७२ ॥

हे जिय! यदि निर्ग्रन्थ मन, तो तू भी निर्ग्रन्थ।
जहाँ पावे निर्ग्रन्थता, तहाँ लहे शिव-पन्थ ॥ ७३ ॥

यथा बीज में बड़ प्रगट, बड़ में बीज सुजान।
तथा देह में देव जिय, जो तिहुँ लोक प्रधान ॥ ७४ ॥

जो जिन हैं सो वह ही मैं, कर अनुभव निर्भ्रान्त।
हे योगी! शिव-हेतु है, अन्य न मन्त्र न तन्त्र ॥ ७५ ॥

दो त्रय चार रु पाँच नव, सप्त छह पञ्च रु चार।
इन गुण लक्षित आतमा, कर तू यह निर्धार ॥ ७६ ॥

दो त्यागी दो गुणसहित, जो आतम-रस लीन।
शीघ्र लहे निर्वाण पद, यह कहते प्रभु जिन ॥ ७७ ॥

तीन रहित त्रय गुण सहित, निज में करे निवास।
शाश्वत सुख के पात्र वे, जिनवर करें प्रकाश ॥ ७८ ॥

कषाय संज्ञा चार विन, अनन्त चतुष्ट सहित ।
हे जीव ! निजरूप जान यह, होगा परम पवित्र ॥ ७९ ॥

संग रहित दश, सहित दश, लक्षण दश गुण-युक्त ।
निश्चय मे जीव जानना, कहते हैं जिन-भूप ॥ ८० ॥

"आतम दर्शन-ज्ञानमय, आतम चारित्रवान ।
आतम संयम-शील-तप, आतम प्रत्याख्यान ॥ ८१ ॥"

जो जाने निज आतम को, पर त्यागे निर्भ्रान्त ।
सो ही सत्य सन्यास है, कहते श्री जिननाथ ॥ ८२ ॥

रत्नत्रय-युत जीव जो, उत्तम तीर्थ पवित्र ।
हे योगी ! शिव-हेतु वही, अन्य न मन्त्र न तन्त्र ॥ ८३ ॥

दर्शन शुद्ध श्रद्धान है, विमल जो ज्ञान महान ।
फिर फिर ध्यावें आत्मा, सो चारित्र प्रमाण ॥ ८४ ॥

जहँ चेतन तहँ सकल गुण, केवलि-जिन भाषन्त ।
इससे निश्चय योगिजन, शुद्धात्मा जानन्त ॥ ८५ ॥

एकाकी इन्द्रिय रहित, करो योग त्रय शुद्ध ।
निज आतम पहिचान कर, शीघ्र लहो शिव-सुख ॥ ८६ ॥

बन्ध-मोक्ष के पक्ष से, निश्चय बाँधे कर्म ।
सहज रमै निजरूप में, तो पाये शिव-शर्म ॥ ८७ ॥

सम्यग्दृष्टि जीव का, दुर्गति गमन न होय ।
कभी जाय तो दोष नहिं, पूर्व-कर्म क्षय होय ॥ ८८ ॥

निज स्वरूप में जो रमें, त्याग सर्व व्यवहार ।
सम्यग्दृष्टि जीव सो, शीघ्र लहे भव-पार ॥ ८९ ॥

जो सम्यक्त्व प्रधान बुध, वही त्रैलोक्य-प्रधान ।
पावे केवलज्ञान झट, शाश्वत सौख्य निधान ॥ ९० ॥

अजर-अमर बहु गुण निधि, निजरूप में थिर होय ।
नवीन कर्म बांधत नहीं, पूर्व-बद्ध क्षय होय ॥ ९१ ॥

ज्यों जल लिप्त न हो कमल तैसे सम्यक्ज्ञान ।
लिप्त न होता कर्म से, जो लीन आत्म स्वभाव ॥ ९२ ॥

सम-सुख में जो लीन हो, फिर-फिर करे अभ्यास ।
अखिल कर्म सो क्षय करे, शीघ्र करे शिव-वास ॥ ९३ ॥

पुरुषाकार पवित्र अति, देखे आतमराम।
निर्मल तेजोमय अरु, अनन्त गुणमणि धाम ॥ ९४ ॥

जो जाने शुद्धात्म को, अशुचि देह से भिन्न।
सो ज्ञाता सब शास्त्र का, शाश्वत सुख में लीन ॥ ९५॥

स्व-पर रूप जानैं न जो नहीं तजै परभाव।
सकल शास्त्र जाने तदपि, लहे न शिव-सुख भाई ॥ ९६ ॥

छोड़ कल्पना-जाल सब, परम समाधि लीन।
वेदे जिस आनन्द को, शिव-सुख कहते जिन ॥ ९७ ॥

जो पिण्डस्थ पदस्थ अरु, रूपस्थ रूपातीत।
जिन-भाषित ये ध्यान करि, शीघ्र बने सुपवित्र ॥ ९८ ॥

सर्व जीव हैं ज्ञानमय, ऐसा जो समभाव।
सो सामायिक जिन कह्यो, प्रगट करे भव-पार ॥ ९९ ॥

राग-द्वेष दो त्याग कर, धारै समताभाव।
यह सामायिक जानना, भाषें जिनवरराव ॥१००॥

हिंसादिक तज निज रमें, आतम-स्थिति कर सोय।
छेदोपस्थापना चारित्र, पंचमगति को लेय ॥१०१॥

मिथ्यात्वादिक परिहरण, सम्यग्दर्शन शुद्धि।
यह परिहारविशुद्धि है, शीघ्र लहे शिव-सिद्धि ॥१०२॥

सूक्ष्म लोभ के नाश से, होय सूक्ष्म परिणाम।
जानो सूक्ष्म-चारित्र वह, जो शाश्वत सुखधाम ॥१०३॥

"आतमा सो अर्हंत है, निश्चय सिद्ध जु सोई।
आचारज उवझाय अरु, निश्चय साधू सोई ॥१०४॥"

सो शिव शंकर विष्णु अरु, रुद्र बुद्ध जिन सोई।
ब्रह्मा ईश्वर आदि सो, सिद्ध अनन्त भी सोई ॥१०५॥

ऐसे लक्षण युक्त जो, परम विदेही देव।
तन-वासी इस जीव में, अरु उसमें नहिं फेर ॥१०६॥

"जो सीझे अरु सीझते, जो होंगे भगवान्।
वे निज आतम-दर्श से, यह जानो निर्भ्रान्त ॥१०७॥"

भयभीत जो संसार से, योगीन्दु मुनिराज।
एक चित्त दोहा रचे, निज सम्बोधन काज ॥१०८॥

तिन गुरु चरण सरोज नमि, भाषा दोहा कीन।
लघुमति नाथूराम ने, लखि तिस आगम पीन॥

卐 इति योगसार पद्यानुवाद 卐

जैनधर्म में तो ऐसा उपदेश है कि पहले तो तत्त्वज्ञानी हो, फिर जिसका त्याग करे, उसका दोष पहिचाने; त्याग करने में जो गुण हो, उसे जाने, भविष्य में निर्वाह होना जाने तो प्रतिज्ञा करे, तथा शरीर की शक्ति व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिक का विचार करे। इसप्रकार विचार करके फिर प्रतिज्ञा करनी चाहिए। वह भी ऐसी करनी कि जिससे प्रतिज्ञा के प्रति निरादरभाव न हो, परिणाम चढ़ते रहें – ऐसी जैनधर्म की आम्नाय है।

– पण्डित टोडरमल : मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३८

छहढाला

तास भ्रमण की है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा ।
काल अनन्त निगोद मँझार, बीत्यो एकेन्द्री तन धार ॥ ३ ॥

एक श्वास में अठ-दस बार, जन्म्यौ-मर्यो भर्यो दुखभार ।
निकसि भूमि जल पावक भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो ॥ ४ ॥

दुर्लभ लहि ज्यौं चितामणि, त्यौं पर्याय लही त्रसतणी ।
लट-पिपील-अलि आदि शरीर, धर-धर मर्यो सही बहु पीर ॥ ५ ॥

कबहुँ पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो ।
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशु हति खाये भूर ॥ ६ ॥

कबहुँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अति दीन ।
छेदन-भेदन भूख-पियास, भार-वहन हिम-आतप त्रास ॥ ७ ॥

बध-बन्धन आदिक दुख घनै, कोटि जीभ तैं जात न भनैं ।
अति संक्लेश भाव तैं मरयौ, घोर श्वभ्रसागर में परयौ ॥ ८ ॥

तहाँ भूमि परसत दुख इसो, बिच्छू सहस डसैं नहि तिसो ।
तहाँ राध-श्रोणित वाहिनी, कृमि-कुल कलित देह दाहिनी ॥ ६ ॥

सेमर तरु दल जुत असिपत्र, असि ज्यौं देह विदारैं तत्र ।
मेरु-समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ॥ १० ॥

तिल-तिल करैं देह के खंड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचंड ।
सिंधु-नीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय ॥ ११ ॥

तीन लोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय ।
ये दुख बहु सागर लौं सहै, करम-जोग तैं नरगति लहै ॥ १२ ॥

जननी उदर वस्यौ नव मास, अंग-सकुचतैं पाई त्रास ।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवै ओर ॥ १३ ॥

बालपने में ज्ञान न लह्यौ, तरुण समय तरुणी-रत रह्यौ ।
अर्द्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो ॥ १४ ॥

कभी अकाम-निर्जरा करै, भवनत्रिक में सुरतन धरै ।
विषयचाह-दावानल दह्यौ, मरत विलाप करत दुख सह्यौ ॥ १५ ॥

जो विमानवासी हूँ थाय, सम्यग्दर्शन विन दुख पाय ।
तहँ तैं चय थावर-तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै ॥ १६ ॥



दूसरी ढाल

सांसारिक दु:खो के मूल कारण

(पद्धरि चन्द)

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्ण, वश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मर्ण।
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान ॥ १ ॥

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिन माहिं विपर्ययत्त्व।
चेतन को है उपयोग रूप, बिनमूरत चिन्मूरत अनूप ॥ २ ॥

पुद्‌गल नभ धर्म अधर्म काल, इन तैं न्यारी है जीव चाल।
ताको न जान विपरीत मान, करि करैं देह में निज पिछान ॥ ३ ॥

मैं सुखी-दुखी मैं रंक-राव, मेरे धन-गृह-गोधन-प्रभाव ।
मेरे सुत-तिय मैं सबल-दीन, वेरूप-सुभग मूरख-प्रवीन ॥ ४ ॥

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान ।
रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन ॥ ५ ॥

शुभ-अशुभ बंध के फल मँझार, रति-अरति करै निजपद विसार ।
आतमहित हेतु विराग-ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान ॥ ६ ॥

रोकी न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय ।
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान ॥ ७ ॥

इन जुत विपयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानों मिथ्याचरित ।
यों मिथ्यात्वादि निसर्गजेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह ॥ ८ ॥

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोपैं चिर दर्शनमोह एव ।
अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अम्बर तैं सनेह ॥ ९ ॥

धारैं कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्म-जल उपल नाव ।
जे राग-द्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन ॥ १० ॥

ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भव-भ्रमण छेव ।
रागादि भाव हिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत ॥ ११ ॥

जे क्रिया तिन्हैं जानहु कुधर्म, तिन सरधैं जीव लहैं अशर्म ।
याकूँ गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान ॥ १२ ॥

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त ।
कपिलादि-रचित श्रुत को अभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास ॥ १३ ॥

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध-विध देह-दाह ।
आतम-अनात्म के ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन ॥ १४ ॥

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतम के हितपन्थ लाग ।
जगजाल-भ्रमण को देहु त्याग, अब 'दौलत' निज आतम सुपाग ॥ १५ ॥

आतम अनुभव करना रे भाई ॥टेक॥

जबलौं भेद-ज्ञान नहिं उपजै, जनम-मरन दुख भरना रे ॥ १ ॥
आतम पढ़ नव तत्त्व बखानै, व्रत-तप-संजम धरना रे ।
आतम ज्ञान बिना नहिं कारज, जोनी संकट परना रे ॥ २ ॥
सकल ग्रन्थ दीपक हैं भाई, मिथ्यातम के हरना रे ।
कहा करै ते अन्ध पुरुष को, जिन्हैं उपजना-मरना रे ॥ ३ ॥
'द्यानत' जे भवि सुख चाहत हैं, तिनको यह अनुसरना रे ।
'सोऽहं' – ये दो अक्षर जप कै, भव-जल पार उतरना रे ॥ ४ ॥

तीसरी ढाल

निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग तथा सम्यग्दर्शन का स्वरूप एव महिमा

(नरेन्द्र छन्द/जोगीरासा छन्द)

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता विन कहिये।
आकुलता शिव माहि न तातैं, शिव-मग लाग्यौ चहिये॥
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरन शिव-मग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ-रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो॥ १ ॥

परद्रव्यन तैं भिन्न आप में, रुचि सम्यक्त्व भला है।
आपरूप को जानपनो सो, सम्यक् ज्ञान कला है॥
आपरूप में लीन रहे थिर, सम्यक् चारित सोई।
अब व्यवहार मोक्ष-मग सुनिये, हेतु नियत को होई॥ २ ॥

जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव, बंध रु संवर जानो।
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिन को, ज्यों का त्यों सरधानों॥
है सोई समकित विवहारी, अब इन रूप बखानों।
तिनको सुन सामान्य-विशेषैं, दृढ़ प्रतीति उर आनो॥ ३ ॥

वहिरातम अन्तर-आतम, परमातम जीव त्रिधा है।
देह-जीव को एक गिनै, बहिरात्म तत्त्व मुधा है॥
उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के, अन्तर आतम ज्ञानी।
द्विविधि संघ बिन शुध-उपयोगी, मुनि उत्तम निजध्यानी॥ ४ ॥

मध्यम अन्तर आतम हैं जे, देशव्रती अनगारी।
जघन कहे अविरत समदृष्टि, तीनों शिव-मगचारी॥

सकल-निकल परमातम द्वैविधि, तिन में घाति निवारी।
श्री अरहंत सकल परमातम, लोकालोक निहारी॥ ५ ॥

ज्ञानशरीरी त्रिविधि कर्म-मल वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते हैं निकल अमल परमातम, भोगें शर्म अनन्ता॥
बहिरामता हेय जानि तजि, अन्तर-आतम हूजे।
परमातम को ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजें॥ ६ ॥

चेतनता बिन सो अजीव है, पंच भेद ताके हैं।
पुद्गल पंच वरन रस, गंध दो, फरस वसु जाके हैं॥
जिय पुद्गल को चलन सहाई, धर्मद्रव्य अनरूपी।
तिष्ठत होय अधर्म सहाई, जिन बिन-मूर्ति निरूपी॥ ७ ॥

सकल द्रव्य को वास जास में, सो आकाश पिछानो।
नियत वर्तना निस-दिन सो, व्यवहारकाल परिमानो ॥
यों अजीव अब आस्रव सुनिये, मन-वाच-काय त्रियोगा।
मिथ्या अविरति अरु कषाय, परमाद सहित उपयोगा ॥ ८ ॥

ये ही आतम को दुःख कारण, तातैं इनको तजिये।
जीव प्रदेश बँधें विधि सौं सो, बन्धन कबहुँ न सजिये ॥
शम-दम तैं जो कर्म न आवें, सो संवर आदरिये।
तप-बल तैं विधि-झरन निर्जरा, ताहि सदा आचरिये ॥ ९ ॥

सकल कर्म तैं रहित अवस्था, सो शिव थिर सुखकारी।
इह विधि जो सरधा तत्त्वन की, सो समकित व्यवहारी ॥

देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो।
ये हु मान समकित को कारण, अष्ट अंगजुत धारो ॥ १० ॥

वसु मद टारि निवारि त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो।
शंकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित पागो ॥
अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेप हु कहिये।
बिन जाने तैं दोष-गुणन को, कैसे तजिये गहिये ॥ ११ ॥

जिन-वच में शंका न धार, वृष भवसुख-वांछा भानै।
मुनि-तन मलिन न देख घिनावै, तत्त्व कुतत्त्व पिछानै ॥
निज-गुण अरु पर-औगुण ढाँकै, वा निज धर्म बढ़ावै।
कामादिक कर वृष तैं चिगते, निज-पर को सु दिढ़ावै ॥ १२ ॥

धर्मी सौं गौ-बच्छ प्रीति सम, कर निज धर्म दिपावै।
इन गुन तैं विपरीत दोष वसु, तिनको सतत खिपावै॥
पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तौ मद ठानै।
मद न रूप कौ, मद न ज्ञान कौ, धन-बल कौ मद भानै॥ १३॥

तप कौ मद न मद जु प्रभुता कौ करै न सो निज जानै।
मद धारै तो यही दोष वसु, समकित को मल ठानै॥
कुगुरु कुदेव कुवृष सेवक की, नहिं प्रशंस उचरै हैं।
जिन मुनि जिनश्रुत बिन, कुगुरादिक तिन्हैं न नमन करै हैं॥ १४॥

दोष-रहित गुण-सहित सुधी जे, सम्यग्दर्श सजे हैं।
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं॥

गेही पै गृह में न रचे ज्यों, जल तैं भिन्न कमल हैं।
नगर-नारि को प्यार यथा, कादे में हेम अमल हैं ॥ १५ ॥

प्रथम नरक बिन षट् भू ज्योतिष, वान भवन षँढ़ नारी।
थावर विकलत्रय पशु में नहिं, उपजत सम्यक् धारी ॥
तीनलोक तिहुँकाल माँही नहिं, दर्शन सो सुखकारी।
सकल धरम को मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी ॥ १६ ॥

मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान-चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा ॥
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै ॥ १७ ॥



चौथी ढाल

सम्यग्ज्ञान व एकदेशचारित्र का स्वरूप, भेद एवं महिमा

(दोहा)

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान।
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान ॥ १ ॥

(रोला)

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ।
लक्षण श्रद्धा जानि, दुहू में भेद अबाधौ ॥
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हूँ, प्रकाश दीपक तैं होई ॥ २ ॥

तास भेद दो हैं, परोक्ष परतछि तिन माँही।
मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मन तैं उपजाहीं ॥

अवधिज्ञान मनपर्जय, दो हैं देश प्रतच्छा।
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये, जानैं जिय स्वच्छा ॥ ३ ॥

सकल द्रव्य के गुन अनन्त, परजाय अनन्ता।
जानै एकै काल प्रगट, केवलि भगवन्ता ॥
ज्ञान समान न आन जगत में, सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारण ॥ ४ ॥

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते ॥
मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायौ।
पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ ॥ ५ ॥

तातैं जिनवर कथित, तत्त्व अभ्यास करीजे।
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे॥
यह मानुष पर्याय, सुकुल सुनिवो जिनवानी।
इह विधि गये न मिलै, सुमणि ज्यों उदधि समानी॥ ६ ॥

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवे।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावे॥
तास ज्ञान को कारण, स्व-पर विवेक बखानो।
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आनो॥ ७ ॥

जे पूरब शिव गये, जाहिं अरु आगे जेहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहै हैं॥

विषय चाह दव दाह, जगत जन अरनि दझावै ।
तास उपाय न आन, ज्ञान घनघान बुझावै ॥ ८ ॥

पुण्य-पाप फल माहिं, हरख बिलखौ मत भाई ।
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई ॥
लाख बात की बात, यहै निश्चय उर लाओ ।
तोरि सकल जग दन्द-फन्द, निज आतम ध्याओ ॥ ९ ॥

सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि, दृढ़ चारित लीजै ।
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै ॥
त्रसहिंसा को त्याग, वृथा थावर न संघारै ।
पर-वधकार कठोर निंद्य, नहिं वयन उचारै ॥ १० ॥

जल मृत्तिका बिन और, नाहिं कछु गहै अदत्ता ।
निज वनिता बिन सकल, नारि सौं रहै विरत्ता ॥
अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै ।
दश दिशि गमन प्रमान ठान, तसु सीम न नाखै ॥ ११ ॥

ताहू में फिर ग्राम, गली गृह बाग बजारा ।
गमनागमन प्रमान, ठान अन सकल निवारा ॥
काहू की धन-हानि, किसी जय-हार न चिन्तैं ।
देय न सो उपदेश, होय अघ बनज कृषी तैं ॥ १२ ॥

कर प्रमाद जल भूमि, वृक्ष पावक न विराधै ।
असि धनु हल हिंसोपकरन, नहिं दे जस लाधै ॥

राग-द्वेष करतार कथा, कबहूँ न सुनीजै।
और हु अनरथदंड, हेतु अघ तिन्हैं न कीजै ॥ १३ ॥

धर उर समता भाव, सदा सामायक करिये।
परब चतुष्टय माहिं, पाप तज प्रोषध धरिये ॥
भोग और उपभोग, नियम करि ममत निवारै।
मुनि को भोजन देय, फेर निज करहिं अहारै ॥ १४ ॥

बारह व्रत के अतिचार, पन पन न लगावै।
मरण समय सन्यास धारि, तसु दोष नशावै ॥
यों श्रावक व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै।
तहँ तैं चय नर जन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै ॥ १५ ॥



पाँचवीं ढाल

बारह भावना

(चाल छन्द)

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगन तैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई॥ १ ॥

इन चिन्तत समसुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै।
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठानै॥ २ ॥

जोवन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥ ३ ॥

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दले ते।
मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई, मरते न बचावे कोई ॥ ४ ॥

चहुँ गति दुःख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सब विधि संसार असारा, तामें सुख नाहिं लगारा ॥ ५ ॥

शुभ-अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एक हि तेते।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ॥ ६ ॥

जल-पय ज्यों जिय तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा ॥ ७ ॥

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किम यारी ॥ ८ ॥

जो योगन की चपलाई, तातैं ह्वै आस्रव भाई।
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे॥ ९ ॥

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥ १० ॥

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै॥ ११ ॥

किनहू न करौ न धरै को, षट्द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोक माहिं बिन समता, दुःख सहै जीव नित भ्रमता॥ १२ ॥

अन्तिम ग्रीवक लौं की हद, पायो अनन्त बिरियाँ पद।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ॥ १३ ॥

जो भावमोह तैं न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै ॥ १४ ॥

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी ॥ १५ ॥

आपा नहिं जाना तूने............

आपा नहिं जाना तूने, कैसा ज्ञानधारी रे ॥टेक॥
देहाश्रित करि क्रिया आपको, मानत शिवमग चारी रे ॥ १ ॥
निज निवेद[1] विन घोर परीषह, विफल कही जिन सारी रे ॥ २ ॥
शिव चाहै तो द्विविध कर्म तैं, कर निज परिणति न्यारी रे ॥ ३ ॥
'दौलत' जिन निजभाव पिछान्यौ, तिन भवविपति विदारी रे ॥ ४ ॥

— पण्डित दौलतराम

---

[1] ज्ञान

छठी ढाल

सकलचारित्र एव स्वरूपाचरणचारित्र का स्वरूप एवं फल

(हरगीतिका)

षट्काय जीव न हनन तैं, सब विधि दरब हिंसा टरी।
रागादि भाव निवार तैं, हिंसा न भावित अवतरी॥
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू बिना दीयौ गहैं।
अठ-दश सहस विधि शील धर, चिद्ब्रह्म में नित रमि रहैं॥ १ ॥

अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दशधा तैं टलैं।
परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्य्या तैं चलैं॥
जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रम-रोग हर जिनके वचन, मुख-चन्द्र तैं अमृत झरैं॥ २ ॥

छ्यालीस दोष बिना सुकुल, श्रावक तनैं घर अशन को।
लैं तप बढ़ावन हेत नहिं तन पोषते तजि रसन को॥
शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखि कैं गहैं लखि कैं धरैं।
निर्जन्तु थान विलोकि तन मल मूत्र श्लेषम परिहरैं॥ ३ ॥

सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावते।
तिन सुथिर मुद्रा देख मृगगण, उपल खाज खुजावते॥
रस रूप गन्ध तथा फरस अरु, शब्द शुभ असुहावने।
तिनमें न राग विरोध, पंचेन्द्रिय जयन पद पावने॥ ४ ॥

समता सम्हारैं थुति उचारैं, वन्दना जिनदेव को।
नित करैं श्रुति-रति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव को॥

जिनके न न्हौंन न दन्तधोवन, लेश अम्बर आवरन।
भू माहिं पिछली रयनि में, कछु शयन एकाशन करन ॥ ५ ॥

इक बार दिन में लैं अहार, खड़े अलप निज-पान में।
कचलोंच करत न डरत परिषह, सों लगे निज-ध्यान में ॥
अरि-मित्र महल-मसान कंचन-काच निन्दन-थुतिकरन।
अर्घावतारन असि-प्रहारन में, सदा समता धरन ॥ ६ ॥

तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश, रतनत्रय सेवैं सदा।
मुनि साथ में वा एक विचरैं, चहैं नहिं भव-सुख कदा ॥
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब।
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब ॥ ७ ॥

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिय।
वरणादि अरु रागादि तैं, निज भाव को न्यारा किया॥
निजमाहिं निज के हेतु, निज कर आपको आपै गह्यौ।
गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, मँझार कछु भेद न रह्यौ॥ ८ ॥

जहँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को, न विकल्प वच-भेद न जहाँ।
चिद्‌भाव कर्म चिदेश कर्त्ता, चेतना किरिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न सुध, उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत, ये तीन-धा एकै लसा॥ ९ ॥

परमाण-नय-निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग-ज्ञान-सुख-बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै॥

मैं साध्य-साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चितपिण्ड चण्ड अखण्ड सगुण-करण्ड, च्युत पुनि कलनि तैं ॥ १० ॥

यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यौ।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यौ ॥
तब ही शुकल ध्यानाग्नि करि, चउ घाति विधि कानन दह्यौ।
सब लख्यौ केवलज्ञान करि, भविलोक कों शिवमग कह्यौ ॥ ११ ॥

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिन माहिं अष्टम भू बसै।
वसु कर्म विनसैं सुगुण वसु, सम्यकत्व आदिक सब लसैं ॥
संसार खार अपार, पारावार तरि तीरहिं गये।
अविकार अचल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये ॥ १२ ॥

निज माहिं लोक अलोक, गुण-परजाय प्रतिबिम्बित थये ।
रहि हैं अनन्तानन्त काल, तथा यथा शिव परिणये ।।
धनि धन्य हैं जे जीव नरभव, पाय यह कारज किया ।
तिन ही अनादि भ्रमण पंच प्रकार, तजि वर सुख लिया ।। १३ ।।

मुख्योपचार दु भेद यों, बड़भागी रत्नत्रय धरैं ।
अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश-जल जग-मल हरैं ।।
इमि जानि आलस हानि, साहस ठानि यह सिख आदरौ ।
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ ।। १४ ।।

यह राग-आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये ।
चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निज-पद वेइये ।।

कहा रच्चौ पर-पद में न तेरो, पद यहै क्यों दुख सहै।
अब दौल! होउ सुखी स्व-पद रचि, दाव मत चूकौ यहै ॥ १५ ॥

अन्तिम प्रशस्ति

इक नव वसु इक वर्ष की, तीज शुक्ल वैसाख।
करचो तत्त्व उपदेश यह, लखि वुधजन की भाख ॥ १ ॥
लघु-धी तथा प्रमाद तै, शब्द अर्थ को भूल।
सुधी सुधार पढो सदा, जो पावो भव-कूल ॥ २ ॥

卐 इति छहढाला 卐

अपनी सुधि भूलि आप, आप दुख उपायो।
ज्यों शुक नभचाल विसरि, नलिनी लटकायो ॥
—पण्डित दौलतराम

आध्यात्मिक कविवर भैया भगवतीदास कृत

उपादन-निमित्त संवाद

(दोहा)

पाद प्रणमि जिनदेव के, एक उक्ति उपजाय।
उपादान अरु निमित्त को, कहूँ संवाद बनाय॥ १॥

पूछत है कोऊ तहाँ, उपादान किह नाम।
कहो निमित्त कहिये कहा, कब कै है इह ठाम॥ २॥

उपादान निज शक्ति है, जिय को मूल स्वभाव।
है निमित्त परयोग तैं, बन्यौ अनादि बनाव॥ ३॥

निमित्त कहै मोकों सबै, जानत है जगलोय।
है निमित्त परयोग तैं, बन्यो अनादि बनाव ॥ ४ ॥

उपादान कहै रे! निमित्त, तू कहा करै गुमान।
मोकों जानें जीव वे, जो हैं सम्यक्वान ॥ ५ ॥

कहैं जीव सब जगत के, जो निमित्त सोई होय।
उपादान की बात को, पूछे नाहीं कोय ॥ ६ ॥

उपादान बिन निमित्त तू, कर न सके इक काज।
कहा भयो जग ना लखै, जानत है जिनराज ॥ ७ ॥

देव – जिनेश्वर गुरु – यती, अरु जिन – आगमसार।
इह निमित्त तें जीव सब, पावत हैं भव-पार ॥ ८ ॥

यह निमित्त इह जीव के, मिल्यौ अनन्ती बार।
उपादान पलटयौ नहीं, तो भटकयौ संसार ॥ ६ ॥

के केवलि के साधु के, निकट भव्य जो होय।
सो क्षायिक सम्यक् लहै, यह निमित्त बल जोय ॥ १० ॥

केवलि अरु मुनिराज के, पास रहे बहु लोय।
पै जाको सुलटयो धनी, क्षायिक ताको होय ॥ ११ ॥

हिंसादिक पापन किये, जीव नरक में जाहिं।
जो निमित्त नही काम को, तो इम काहे कहाहिं ॥ १२ ॥

हिंसा में उपयोग जहाँ, रहे ब्रह्म का राच।
तेई नरक में जात हैं, मुनि नहिं जाहिं कदाच ॥ १३ ॥

दया-दान-पूजा किये, जीव सुखी जग होय।
जो निमित्त झूठो कहो, यह क्यों माने लोय ॥ १४ ॥

दया-दान-पूजा भली, जगत माहिं सुखकार।
जहँ अनुभव को आचरण, तहँ यह बन्ध विचार ॥ १५ ॥

यह तो बात प्रसिद्ध है, सोच देख उर माहि।
नर-देही के निमित्त बिन, जिय त्यों मुक्ति न जाहिं ॥ १६ ॥

देह पींजरा जीव को, रोकै शिवपुर जात।
उपादान की शक्ति सों, मुक्ति होत रे! भ्रात ॥ १७ ॥

उपादान सब जीव पै, रोकन हारो कौन।
जाते क्यों नहिं मुक्ति में, बिन निमित्त के होन ॥ १८ ॥

उपादान सु अनादि को, उलट रह्यौ जगमाहिं।
सुलटत ही सूधे चले, सिद्ध लोक को जाहिं ॥ १६ ॥

कहो अनादि निमित्त बिन, उलट रह्यौ उपयोग ?
ऐसी बात न संभवे, उपादान तुम जोग ॥ २० ॥

उपादान कहे रे! निमित्त, हम पै कही न जाय।
ऐसे ही जिन केवली, देखे त्रिभुवन राय ॥ २१ ॥

जो देख्यो भगवान ने, सो ही साँचो आहिं।
हम-तुम संग अनादि के, बली कहोगे काहिं ॥ २२ ॥

उपादान कहे वह बली, जाको नाश न होय।
जो उपजत विनशत रहे, बली कहाँ तैं सोय ॥ २३ ॥

उपादान तुम जोर हो, तो क्यो लेत आहार ?
पर निमित्त के योग सो, जीवत है जगमाहिं ॥ २४ ॥

जो आहार के जोग सों, जीवत हैं जगमाहिं।
तो वासी संसार के, कोऊ मरते नाहिं ॥ २५ ॥

सूर सोम मणि अग्नि के, निमित्त लखे ये नैन।
अन्धकार में कित गयो, उपादान दृग दैन ॥ २६ ॥

सूर सोम मणि अग्नि जो, करे अनेक प्रकास।
नैन शक्ति बिन ना लखैं, अन्धकार सम भास ॥ २७ ॥

कहै निमित्त वे जीव को ? मो विन जग के माहि।
सबै हमारे वश परे, हम बिन मुक्ति न जाहिं ॥ २८ ॥

उपादान कहै रे निमित्त ! ऐसे बोल न बोल।
तोको तज निज भजत हैं, ते ही करें किलोल ॥ २६ ॥

कहे निमित्त हम को तजे, ते कैसें शिव जात।
पच महाव्रत प्रगट हैं, और हु क्रिया विख्यात ॥ ३० ॥

पंच महाव्रत जोग त्रय, और सकल व्यवहार।
पर कौ निमित्त खिपाय के, तब पहुँचे भव-पार ॥ ३१ ॥

कहे निमित्त जग मे बड़्यौ, मो तै बड़ो न कोय।
तीन लोक के नाथ सब, मो प्रसाद तै होय ॥ ३२ ॥

उपादान कहै तू कहा, चहुँ गति में ले जाय।
तो प्रसाद तें जीव सब, दुःखी होंहि रे ! भाय ॥ ३३ ॥

कहै निमित्त जो दुःख सहै, सो तुम हमहिं लगाय।
सुखी कौन तै होत हैं, ताको देहु बताय ॥ ३४ ॥

जो सुख को तू सुख कहै, सो सुख तो सुख नहिं।
ये सुख तो दुःख-मूल हैं, सुख अविनाशी माहिं ॥ ३५ ॥

अविनाशी घट-घट बसे, सुख क्यों विलसत नाहि।
शुभ निमित्त के योग बिन, परे-परे बिललाहिं ॥ ३६ ॥

शुभ निमित्त इह जीव को, मिल्यौ अनन्ती बार।
पै एक सम्यग्दर्श बिन, भटकत फिरयौ गंवार ॥ ३७ ॥

सम्यग्दर्श भये कहा, त्वरित मुक्ति में जाहिं।
आगे ध्यान निमित्त है, ते शिव को पहुँचाहिं ॥ ३८ ॥

छोरि ध्यान की धारणा, मोरि योग की रीत।
तोरि कर्म के जाल को, जोरि लई शिव प्रीत ॥ ३९ ॥

तब निमित्त हार्यो तहाँ, अब नहीं जोर बसाय।
उपादान शिवलोक में, पहुँच्यौ कर्म खिपाय ॥ ४० ॥

उपादान जीत्यो तहाँ, निज बल कर परकास।
सुख अनन्त ध्रुव भोगवे, अन्त न वरन्यौ तास ॥ ४१ ॥

उपादान अरु निमित्त ये, सब जीवन पै वीर।
जो निज शक्ति सँभार ही, सो पहुँचे भवतीर ॥ ४२ ॥

'भैया' महिमा ब्रह्म की, कैसे वरनी जाय?
वचन अगोचर वस्तु है, कहिबी वचन बताय ॥ ४३ ॥

उपादान अरु निमित्त को, सरस बन्यौ संवाद।
समदृष्टि को सरल है, मूरख को बकवाद ॥ ४४ ॥

जो जानै गुण ब्रह्म के, सो जाने यह भेद।
साख जिनागम सौं मिले, तो मत कीज्यौ खेद ॥ ४५ ॥

अन्तिम प्रशस्ति

नगर आगरा अग्र है, जैनी जन को वास।
तिह थानक रचना करी, 'भैया' स्वमति प्रकास ॥ ४६ ॥

सवत् विक्रम भूप को, सत्तरह से पचास।
फागुन पहले पक्ष में, दशों दिशा परकास ॥ ४७ ॥

卐 इति उपादान-निमित्त संवाद 卐

आध्यात्मिक कविवर विद्वद्वर्य पंडित बनारसीदास कृत

निमित्त-उपादान दोहा

निमित्त का पक्ष :-

गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बलहीन।
ज्यो नर दूजे पाँव बिन, चलवे को आधीन ॥ १ ॥

हौ जाने था एक ही, उपादान को काज।
थके सहाई पौन बिन, पानी माहि जहाज ॥ २ ॥

उपादान का समाधान :-

ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिव मग धार।
उपादान निहचै जहाँ, तहाँ निमित्त व्यवहार ॥ ३ ॥

उपादान निजगुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परवान विधि, विरला बूझै कोय ॥ ४ ॥

उपादान बल जहाँ तहाँ, नहिं निमित्त को दाव।
एक चक्र सौं रथ चले, रवि को यहै स्वभाव ॥ ५ ॥

सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन।
ज्यों जहाज परवाह में, तिरे सहज विन पौन ॥ ६ ॥

उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेश।
वसे जु जैसे देश में, करे सु तैसे भेष ॥ ७ ॥

卐 इति निमित्त-उपादान दोहा 卐

साधु-स्तुति

ऐसे जनो मुनी महाराज, सदा उर मो बसो ॥ टेक ॥

जिन समस्त परद्रव्यनि माही, अहंबुद्धि तजि दीनी।
गुन अनन्त ज्ञानादिक मम पुनि, स्वानुभूति लखि लीनी ॥ १ ॥

जे निज बुद्धिपूर्व रागादिक, सकल विभाव निवारै।
पुनि अबुद्धिपूर्वक नाशन को, अपनी शक्ति सम्हारे ॥ २ ॥

कर्म शुभाशुभ बन्ध-उदय मे, हर्ष-विषाद न राखे।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण-तप, भाव सुधारस चाखे ॥ ३ ॥

पर की इच्छा तजि निजबल सजि, पूरव कर्म खिरावे।
सकल कर्म तै भिन्न अवस्था, सुखमय लखि चित चावैं ॥ ४ ॥

उदासीन शुद्धोपयोगरत सबके दृष्टा-ज्ञाता।
बाहिजरूप नगन समताकर, 'भागचन्द' सुखदाता ॥ ५ ॥

— आध्यात्मिक कविवर श्री भागचन्द

卐 मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ 卐

मैं हूँ अपने मे स्वय पूर्ण, पर की मुझ मे कुछ गन्ध नही।
मैं अरस, अरूपी, अस्पर्शी, पर से कुछ भी सम्बन्ध नही॥

मैं रग-राग से भिन्न, भेद से भी मैं भिन्न निराला हूँ।
मैं हूँ अखण्ड, चैतन्यपिण्ड, निज रस मे रमने वाला हूँ॥

मैं ही मेरा कर्त्ता-धर्त्ता, मुझ में पर का कुछ काम नही।
मैं मुझ मे रहने वाला हूँ, पर मे मेरा विश्राम नही॥

मैं शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध, एक, पर-परिणति से अप्रभावी हूँ।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व, मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ॥

—डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल